प्रियग्रन्थमालापुष्प सं० ५३

ब्रह्ममुनिग्रन्थमालापुष्प सं० २१

बाल जीवन सोपान

जिसमें—

माता पिता और आचार्य के द्वारा बालकों का निर्माण, बालकों के द्वारा अनुशासनपालन, ब्रह्मचर्य और विद्यावृद्धि के साधन, शिष्टाचार सदाचार सब से यथायोग्य व्यवहार, सावधानता के स्थान, बालकों के लक्ष्य तथा लक्ष्यपूर्ति के साधन मौलिक एवं अनुपम बालक बालिकाओं-छात्र छात्राओं के लिये अत्यन्त उपादेय हैं।

लेखक और प्रकाशक—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)

पुस्तक मिलने का पता—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, १४२ दयानन्द भवन

नई दिल्ली-१

प्रथमवार १५०० | जनवरी १९६० ई० पौष २०१६ वि० | मूल्य १।।=)

विषय सूची

प्राक्कथन

बालक एक मानवीय खिलौना है, जैसे मिट्टी आदि के बने खिलौने हुआ करते हैं। कोई खिलौना अच्छा है या नहीं इसकी पहिचान के लिये अथवा उसे अच्छा बनने के लिये तीन बातों पर ध्यान रखना होता है। एक तो यह कि वह शीघ्र टूटे फूटे नहीं या शीघ्र उसके अङ्ग भङ्ग न होते हों तो वह खिलौना अच्छा है, प्रतिकूल इसके खिलौने को उठाने धरने पर या कुछ खेलने से ही कभी उसका हाथ टूट जावे कभी पैर कभी शिर और कभी अन्य अङ्ग तो खिलौना अच्छा नहीं है। ऐसे ही जो बालकरूप मानवीय खिलौना सदा स्वस्थ रहे या प्रायः स्वस्थ रहे अच्छा मानवीय खिलौना है वह स्वयं सुख पायगा और अन्यों को सुख पहुंचायगा समाज तथा देश की सेवा कर सकेगा। जो बालक ऐसा हो कि कभी उसकी आंख दुःखे कभी नाक कभी कान कभी मुख कभी उसे अतिसार हो कभी मलबन्ध कभी मूत्ररोग कभी प्रमेह हो कभी कभी उदरपीडा कभी ज्वर कभी आध्मान (अफारा) और तिल्ली आदि के रोग पुनः-पुनः होते रहें वह ऐसा बालक अच्छा मानवीय खिलौना नहीं

है। वह स्वयं दु:ख पायगा और अन्यों के भी दु:खों का कारण बनेगा, समाज और देश का तो उससे क्या होना है।

दूसरी बात यह है खिलौने के अच्छा होने की उसका आकार-प्रकार देखने में यथोचित हो तो वह अच्छा है, यथोचित न हो तो वह अच्छा नहीं जचता। ऐसे ही बालक मानवीय खिलौना शरीर और वस्त्रों से देखने में यथोचित है व्यवस्थित है तो वह अच्छा मानवीय खिलौना है वह अन्यों के प्रेम का पात्र और पास बैठने बिठाने के योग्य होगा। जो बालक शरीर और वस्त्रों से यथोचित व्यवस्थित न हो शरीर पर मल चिपका हो नाक बहता हो आंख मुख भी शुद्ध न हो हाथ पांव गन्दे और वस्त्र मैले एवं जीर्ण (फटे हुए) हों तो वह मानवीय खिलौना अच्छा नहीं, रंग गोरा होने पर भी उस से लोग प्रेम नहीं करते अपितु घृणा किया करते हैं पास नहीं बिठाते हैं।

तीसरी बात खिलौने के अच्छा होने की है उस पर रंग रूप पालिश का होना। जिस खिलौने पर रंग रूप पालिश पक्की और चमकदार हो तथा यथास्थान हो वह खिलौना अच्छा है घर की सभाभवन की शोभा बढाने वाला है। विपरीत इसके जिस खिलौ-ने की रंग रूप पालिश हाथ के लगने से हट जाए वस्त्र छू जाने से मिट जाए पानी पडने से धुल जाए या देखने में रंगरूप पालिश अशोभनीय हो तो वह खिलौना अच्छा नहीं है। ऐसे ही जिस बालकरूप मानवीय खिलौने पर सभ्यता सुशिक्षा का रंग रूप चढा हो कि कैसे माता पिता बडे छोटे बन्धुजनों से व्यवहार करना

बोलना और कैसे आचार्य अतिथि मान्य से तथा कैसे शासक या नेता से एवं कैसे दु:खी अशक्त से व्यवहार करना चाहिए, कैसे किसी के यहां अतिथि बनकर जाने पर और कैसे सहयोगियों से वर्तन करना तथा कैसे सभा सम्मेलन में बैठना उठना आदि व्यवहार करना होता है यह सब उसके जीवन में हो। विद्या, पर हित चिन्तन आदि सद्गुणों और परमात्मा की उपासना से जिस का अन्तरात्मा सुभूषित हो वह बालक अच्छा खिलौना है वह संसार में चमकनेवाला तथा समाज देश और विश्व का उपकार करने वाला नेता महात्मा महापुरुष तथा महाविद्वान् बनेगा। विपरीत जो बालकरूप मानवीय खिलौना ऐसा हो कि जिस पर सभ्यता सुशिक्षा का रंग रूप न हो, माता पिता आचार्य अतिथि मान्यों के प्रति उचित मान का व्यवहार करना जिसे न आता हो छोटों से वर्ताव न जानता हो, बन्धुजनों तथा साथियों के साथ बोलना बैठना न आता हो, शासक नेता के प्रति उचित वर्ताव न कर सकता हो, दु:खी अशक्त से व्यवहार करना न आता हो, न ही किसी के यहां कैसें अतिथि होकर बैठते उठते हैं यह जानता हो, सभा सम्मेलन में भी प्रविष्ट होना बैठना उठना न आता हो, पर हितचिन्तन परोपकार के मार्ग का बोध न हो, विद्या के सदुपयोग से रहित हो, जीवन में सद्गुणों का आधान न हो और परमात्मा के प्रति कृतज्ञता श्रद्धा न हो वह ऐसा बालक अच्छा मानवीय खिलौना नहीं है। वह संसार में चमकने वाला न बन सकेगा किन्तु साधारण तच्छ जन्तसा या निकृष्ट मानव ही बनकर

रह जावेगा।

सो यह बालकरूप मानवीय खिलौना निकृष्ट न बन सके इस से सावधान रहने और उच्च बन सके उसके लिये उपाय का प्रदर्शन एवं विधान इस पुस्तक के भिन्न भिन्न प्रकरणों में यथास्थान मिलेगा।

बाल्यावस्था या बाल्यकाल ऐसा है जैसे किसी वृक्ष के अङ्कुर या कुछ उभरे हुए अल्पवयस्क तरु (पौधे) का समय होता है। तब जैसे वह योग्य व्यवस्था रक्षा समुचित खाद और वातावरण को प्राप्त करके स्थिर रहता तथा भविष्य में अच्छा फूलता फलता है ऐसे ही बालक भी निर्दिष्ट शिष्टाचार सदाचार और विद्या आदि लाभों से युक्त होकर अपने वर्तमान में स्थिर स्वस्थ गुणवान् होता है और भविष्य में मानवीय जीवन के उच्च फूलों और फलों को प्राप्त कर प्रफुल्लित सफल सानन्द होगा।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

१०।८।१९५९ ई०

बाल जीवन सोपान

[१]

बालक का निर्माण

बालकों के जीवननिर्माता या मानव निर्माण के कलाकार प्रथम तीन हैं, माता पिता और आचार्य "मातृमान् पितृमानाचार्य-वान् पुरुषो वेद" (शतपथ ब्राह्मण) मातावाला पितावाला और आचार्यवाला होता हुआ मनुष्य ज्ञानवान् बनता है। इनके पश्चात् जबकि विद्यानिष्णात स्नातक बन जाता है तब वह स्वयं भी अपना निर्माण करता है, साथ ही समाज अपनी सामाजिक मर्यादाओं के द्वारा तथा राष्ट्र अपने नीति-विधानों के द्वारा मानव का निर्माण किया करते हैं। समाज और राष्ट्र के द्वारा मानवनिर्माण पर चर्चा करना इस पुस्तक का प्रतिपाद्य नहीं है।

माता पिता के द्वारा बालक का बाह्य निर्माण अर्थात् शारीरिक निर्माण तो होता ही है साथ में आन्तरिक निर्माण भी हुआ करता है। बालक का शारीरिक निर्माण एक तो नैसर्गिक है जो ईश्वराधीन

है, मनुष्य के कौन कौन अङ्ग कैसे कैसे और कहां कहां शरीर में हुआ करते हैं या होने चाहिएं इस विषय में माता पिता को न कुछ सोचना होता है और न ही वह उनके अधीन ही है, हां बालक पुष्ट शरीरवाला सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर और बुद्धिमान् हो यह तो उनके अधीन है ही। जैसे किसी पौधे की शाखा पत्ते फूल फल किस आकर प्रकार के कहां कहां हों यह तो नैसर्गिक है ईश्वराधीन है परन्तु पौधा पुष्ट हो पत्ते फूल फल सुन्दर अच्छे पुष्ट गुणवान् आवें यह तो कृषक (किसान) या माली के अधीन है ही जो कि भूमि को तैयार करना, अच्छा पुष्ट बीज लेना विधि से भूमि में डालना पुनः रक्षा, समय पर खाद्य आदि से पालन करना कार्य उसका है। ऐसे ही माता पिता का संयम से रहकर विधि से गर्भ का संस्थापन रक्षण पालन आदि कार्य है। जैसा कि श्री० कृष्णजी और रुक्मिणी ने १२ वर्ष के संयम से प्रद्युम्न पुत्र तैयार किया था।

बालक का दूसरा निर्माण है आन्तरिक, वह तीन प्रकार का है। धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक। इन तीनों के निर्माण-कर्ता प्रायः क्रमशः माता, पिता और आचार्य हैं। माता प्रधानतया बालक का धार्मिक निर्माण करती है, पिता प्रायः सामाजिक और आचार्य प्रधानतया आध्यात्मिक निर्माण किया करता है। माता के द्वारा बालक का निर्माण गर्भ के कुछ पूर्व से प्रारम्भ हो जाता है, गर्भस्थिति में और प्रसव के पश्चात् पांच वर्ष की आयु तक रहता है। गर्भ से पूर्व और गर्भस्थिति में माता निज भावनाओं से निर्माण किया करती है। गर्भावस्था में जैसे माता के विचार हुआ

करते हैं वैसे ही बालक पर संस्कार पड़ा करते हैं। वीर अभिमन्यु गर्भगत संस्कारों का फल था, यह निर्माण भावनात्मक है। प्रसव के पश्चात् माता बालक का निर्माण निदेश द्वारा करती है यह निदेशात्मक निर्माण है, निदेश अर्थात् सहारा या प्रेरणा देना माता के द्वारा होता है, बालक का निदेश से उठाना चलाना बुलाना (लोरी देना-लोरी में अच्छी बातें सुनाना) जागते हुए अच्छी बातें सुझाना। इस प्रकार माता के द्वारा यह भावनात्मक और निदेशरूप निर्माण था। माता, पिता और और आचार्य ये तीनों बालक के निर्माण में कलाकार हैं। इनमें माता अपने भावनात्मक और निदेशरूप निर्माण से बालकरूप खिलौने को उत्पादनरूप कच्चा स्वरूप देती है, पिता आदेशरूप (विधि निषेध शासन) निर्माण से बालक खिलौने को पालनरूप पक्कास्वरूप देता है और आचार्य उपदेशरूप निर्माण से बालक खिलौने को शिक्षा सभ्यता शिष्टाचार सदाचार का रंग चढाकर सुशिक्षित रूप देता है, परन्तु तीनों कलाकारों में माता प्रधान कलाकार है क्योंकि कच्चारूप प्रधान होता है। कोई कच्चा खिलौना मिट्टी से बना हुआ घोडे का हो तो वह अग्नि में पक कर भी घोडा और रंगरूप चढकर भी घोडा ही रहता है। माता बालक को कच्चारूप अच्छा दे, जैसे वेद में कहा है "मम पुत्राः शत्रुहणो अथो मे दुहिता विराट्" (ऋ० १०। १५९। ३) माताकी भावना है कि मेरे पुत्र शत्रुनाशक हों, बाहिरी आक्रमणकारी शत्रुओं के भी नाशक हों और कामक्रोध आदि बुरी भावनारूप-भीतरी शत्रुओं के भी विनाशक हों, तथा मेरी कन्या विराट् अर्थात्

ज्योति हो अविद्या अन्धकार और कुप्रथा भूल भ्रान्ति को मिटानेवाली हो। यह था माता के द्वारा बालक का प्रायः धार्मिक निर्माण। पिता के द्वारा बालक का सामाजिक निर्माण होता है, वेद में कहा है "सभेयो युवाऽस्या यजमानस्य वीरो जायताम्" (यजु० २२।२२) इस पिता का पुत्र सभ्य हो—सभा समाज में बैठने और यथोचित व्यवहार करने योग्य हो। बन्धुबान्धव भृत्य अनुचर के साथ अतिथि मान्यों के प्रति राजा प्रजा के सम्पर्क में आने बोलने बैठने योग्य हो।

आचार्य की ओर से बालक का आध्यात्मिक निर्माण उपदेश द्वारा होता है। आचार्य से प्रथम शिक्षण लिपि (वर्णमाला) का मिलता है, लिपि हाथ से लिखी जाती है और आंख से पढी जाती है। आचार्य द्वारा बालक को मनुष्य बनाने का यह प्रथम प्रकार है, लिपि हाथ से लिखना और आंख से पहिचानना-देखना पढना मनुष्य से भिन्न अन्य प्राणी का कार्य नहीं है किन्तु मानव का ही है। लिपि तक ही मानवता पूरी नहीं होती क्योंकि लिपि अपने लिये नहीं अपने तक नहीं वह तो भाषा के लिये है, लिपि का हाथ और आंख तक ही सम्बन्ध था पर भाषा का सम्बन्ध वाक् (वाणी) और श्रोत्र (कान) तक गया। वह भाषा द्वारा आचार्य की ओर से मानव का दूसरे प्रकार का निर्माण हुआ भाषा को बोलना-व्यक्त वाणी का उच्चारण करना और उसे वैसे ही कान से सुनना अन्य प्राणी का काम नहीं मनुष्य का ही है। इतने पर भी मनुष्य पूरा नहीं बनता। क्योंकि भाषा अपने तक ही नहीं रहतीयह है

विद्या के लिये, भाषा का सम्बन्ध वाणी और कान तक था परन्तु विद्या का सम्बन्ध मन के साथ हुआ, यह तीसरा प्रकार बालक के निर्माण में आचार्य द्वारा हुआ विद्या से मनुष्य का निर्माण एक प्रकार से पूर्ण है, सांसारिक निर्वाह तो केवल भाषा या केवल लिपि से या विना लिपि के भी चल सकता है पर अन्य प्राणी और मनुष्य का आन्तरिक भेद न रहेगा किन्तु मनुष्य विकासी-जीवन—आगे बढनेवाला है अतः विद्या तक ही रहना इसकी पूर्णता नहीं है या मानवता की परिसमाप्ति नहीं है क्योंकि विद्या भी अपने तक नहीं, विद्या का सम्बन्ध है मन के साथ परन्तु विद्या है संस्कृति के लिये और संस्कृति का सम्बन्ध है आत्मा के साथ। आत्मा में शोभा आना आत्माका संस्कृत होना सुभूषित होना मानव की पूर्णता है। आत्मा के सुसंस्कृत होने सुगुणान्वित होने से बढ कर लक्ष्य या अभीष्ट नहीं हो सकता।

माता पिता और आचार्य को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बालक के अन्दर सत्यप्रियता, जिज्ञासा और अनुकरणशीलता ये तीन गुण स्वभाविक हुआ करते हैं, इन गुणों की रक्षा और वृद्धि सदा करते रहना चाहिए। उसे झूठ बोलना सिखाकर उसकी सत्य-प्रियता को नष्ट करना बुरा है, उसके द्वारा किए गए प्रश्न का उत्तर न देकर डांट डपटरूप बोझल पत्थर को उसके मस्तिष्क पर रखकर अनन्त विद्याओं की बीजशक्ति को मार देना महान् अनर्थ है। उनके सम्मुख अपना अयोग्य व्यवहार करना उन्हें अन्यथा अनुकरण देना है। तथा बालकों के प्रति अपशब्द बोलकर प्यार करना

या वार्तालाप करना अशोभनीय है। किन्ही भूतप्रेत आदि मिथ्या भयों को उनके अन्दर बिठा देना भी हानिकर है और वार वार दण्ड दे देकर उद्दण्ड भी नहीं बनाना चाहिए।

इस प्रकार क्रमशः माता, पिता और आचार्य से बालक का निर्माण प्रथम होता है। पश्चात् अपने द्वारा भी बालक स्वयं अपना निर्माण किया करता है सो वह प्रसङ्ग अगले प्रकरणों में में क्रमशः देखना चाहिए।

ब्रह्मचर्य और अध्ययन

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म का अर्थ है परमात्मा और वेद। वेद कहते हैं ज्ञान को, विद्यार्थि-जीवन में ज्ञान के लिये चर्य अर्थात् आचरण करने योग्य अनुष्ठान ब्रह्मचर्य है। ज्ञानार्थ आचरण करने वाला बालक ब्रह्मचारी कहलाता है। ज्ञान मस्तिष्क से गृहीत होता है और मस्तिष्क ओज पर निर्भर है, ओज बनता है मानव की बीजशक्ति अर्थात् वीर्य से जो शरीर की सातवीं धातु है,* और सेर भर भोजन से रत्ती भर का भी शतांश जितना भाग बनता है। उस सातवीं धातु वीर्य का रक्षण ब्रह्मचर्य

---

* रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः ॥ (सुश्रुत)

रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद उत्पन्न होता है, मेद से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से शुक्र–वीर्य बनता है।

४—न रुच्यर्थं किञ्चन धारयीत ।

(काठक० १ । १ । २०, मानव गृह्य १ । १ । १० ।।)

ब्रह्मचारी को केवल रुचि के अर्थ—व्यसन (फैशन) के लिए कुछ भी धारण नहीं करना चाहिए। वेशभूषा का व्यसन (फैशन) हो जाने पर शृङ्गार की प्रवृत्ति बढ जाती है पुनः मन में चञ्चलता और वासना आना भी स्वाभाविक है। आज कल यही हो रहा है लडकियों की भाँति लडके केश शृङ्गार आदि करते हैं और लडकों के वेश में लडकियाँ रहना पसन्द करती हैं, यह तो विपरीताचरण ही है।

५—मृदुः । शान्तः । दान्तः । ह्रीमान् । दृढधृतिः ।
अक्रोधनः । अनसूयः ।।

(आपस्तम्बीय० १७-२४)

ब्रह्मचारी कोमल स्वभाव वाला हो कठोर न हो; शान्त, जितेन्द्रिय, लज्जावान्, दृढनिश्चयवाला—पक्की धारणा वाला, अक्रोधी, अनिन्दक—निन्दाशील न हो।

६—एकः शयीत सर्वत्र ।

(मनु० २ । १८०)

ब्रह्मचारी सदा अकेला सोए दूसरे के साथ एक बिस्तरे पर न सोए। दूसरे के साथ सोने से भी स्पर्शवश कामवासना जाग जाती है। तथा "दिवा मा स्वाप्सीः" ब्रह्मचारी को दिन में सोने का निषेध है। ब्रह्मचारी दिन में सोता रहेगा तो रात्रि में नीन्द

न आयेगी या कम आयगी क्योंकि मन में प्रत्येक कार्य करने की शक्ति सीमित है जब सोने की शक्ति दिन में व्यय हो गई तब रात्रि में नीन्द न आयगी , स्वप्न आवेंगे पुनः अनुचित स्वप्नों में स्वप्नदोष की सम्भावना है ही।

७—शास्त्रों में ब्रह्मचारी को स्वाद की दृष्टि से नहीं किन्तु स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा स्निग्ध भोजन करना चाहिये। अधिक क्षार, खट्टा, तीखा भोजन करने का निषेध है ऐसा भोजन उत्तेजक है हानिकर है।

८—ब्रह्मचर्य से न नष्ट होने वाले, उन्नत करने वाले गुणों को प्राप्त होता है ऐसा व्यास ने कहा है❀।

९--ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व० ११। ५। १९)

ब्रह्मचर्य रूप तप से देव—ऊंचे विद्वान् जन मृत्यु पर विजय पा लेते हैं। मृत्यु का दुःख उनके सम्मुख कुछ नहीं होता है।

अतः ब्रह्मचर्य एक महामूल्य या अमूल्य महौषध है। मानव के ऊंचे उठने के लिये है और विद्यार्थी के लिये तो संजीवन रसायन है, विद्याप्राप्ति में अनिष्फल साधन है।

विद्यार्थियों को सिनेमा देखने के व्यसन से भी बचना चाहिये। यह भी उनके विद्याध्ययन में महान् बाधक और कुमारत्व

❀ "ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः"--अप्रतिघान् गुणान् प्राप्नोति।" (योग—२। ३। व्यासः)

का अवरोधक तथा यौवनलता को निर्बल निःसत्त्व बना देने वाला है। शिमला में डी० ए० वी० स्कूल के छात्रों की सभा में यह एक प्रस्ताव पारित कर भारत सरकार के पास भेजा गया था कि सिनेमा में जो गन्दे दृश्य दिखलाये जाते हैं और स्थान स्थान पर मार्गों में उनके गन्दे चित्र चिपकाये जाते हैं, ये बन्द होने चाहिएं। इससे हम विद्यार्थियों का जीवन नष्ट होता है। यह ऐसा प्रस्ताव वस्तुतः प्रत्येक स्कूल कोलिज के छात्रछात्राओं द्वारा पास करके भेजना चाहिये क्योंकि यह सिद्ध है कि जो फल अपनी ऋतु पर स्वतः पकता है उसमें स्वाद और गुण यथावत् होते हैं। और जो फल विना ऋतु के धूप आदि से पीला पकाजैसा हो जाता है उसमें वास्तविक स्वाद और गुण नही होता है। इसी प्रकार सिनेमा के गन्दे दृश्य और गन्दे चित्र बालकों के अन्दर ऋतु से पहिले। आवश्यक एवं वास्तविक यौवन काल से पहिले कामवासना को उत्पन्न कर देते हैं जो सर्वथा अहितकर हैं। अस्तु।

'अध्ययन'

विद्याप्राप्ति के चार काल—

विद्यार्थियों के लिये विद्योपार्जनार्थ महाभाष्य व्याकरण में कहा है कि "चतुर्भिः प्रकारै विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति" (महाभाष्य-अ० १। १। १।) अर्थात् विद्या चार प्रकारों से उपयुक्त होती है-सिद्ध होती है-प्राप्त एवं सम्पुष्ट होती है। जिनमें प्रथम आगम काल-अध्ययन काल है। गुरु से ध्यान पूर्वक समझ के

साथ पढना। फिर स्वाध्याय काल-पढी हुई विद्या का स्वाध्याय करना, एकान्त में पुनरावृत्ति कर अपनी बुद्धि में विज्ञान ऊहापोह से प्रवृद्ध करना, पुनः प्रवचन काल-दूसरे को उसका उपदेश देना पढाना। दूसरे के द्वारा हुए प्रश्न सन्देहों के समाधान से उसमें विस्तार होना, फिर चतुर्थ व्यवहार काल-अर्थात् तदनुसार व्यवहार द्वारा अपने और अन्यों के जीवन में लाभ ले कर पूर्ण करना एवं सफल बनाना। इन चारों कालों को उत्तम बनाना चाहिये। एक भी काल में कमी पडी तो उतनी कमी विद्या के पूर्ण होने में रह जायेगी और जिसका अध्ययन काल ही गुरु के सम्मुख सावधानी से उपयोग में न आकर आलस्य-प्रमाद अन्यथा चेष्टा में चला जावे तो वह विद्वान् न बन सकेगा।

विद्या के विघ्न—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय मा ब्रूयावीर्यवती तथा स्याम्॥
(निरू० २। १। ४; मनु० २। ११४)

विद्या ब्राह्मण के पास गई और बोली-मेरी रक्षा कर। मैं तेरा कोष हूँ। निन्दक, कुटिल, असंयमी को मेरा उपदेश न देना।

तथा—

स्वच्छन्दत्वं धनार्थित्वं प्रेमभावोऽथ भोगिता।
अविनीतत्वमालस्यं विद्याविघ्नकराणि षट्॥
(सुभाषित रत्नाकरः)

स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता–पढना कभी न पढना आदि, धन की इच्छा, किसी के प्रेम में पड जाना, भोगप्रिय होना, अविनय–अनम्रता, आलस्य ये छः विघ्न विद्या के हैं।

विद्या आदि पांच सहज मित्र—

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः॥
(महाभा० शान्ति० आपद्धर्म० अ० १३८। ८५)

विद्या, शूरता–कार्यतत्परता, दक्षता–चतुरता, बल, धैर्य से कार्य में लगे रहना अविचलित न होना ये पांच बातें सहज मित्र हैं। बाहिर से ढूँढने या लेनें नहीं पडते। किन्तु अपने अन्दर से ही होने वाले एवं निरन्तर सर्वत्र काम आने वाले मित्र हैं। बुधजन इनसे लाभ उठाते हैं, दुःख दूर करते हैं, और सुख प्राप्त करते हैं।

मानव को चमकाने वाले विद्या आदि आठ गुण—

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥
(विदुरनीति १। १। १०४)

बुद्धि, कुलीनता, संयम, अध्ययन, विद्या, पराक्रम, मितभाषण, यथाशक्ति दान करना और कृतज्ञता–अपने ऊपर दूसरे के किये उपकार को मानना–सराहना। ये आठ गुण मानव को चमकाते हैं। उसके जीवन को उज्जवल बनाते हैं। दूसरों में मान प्रतिष्ठा कराते हैं।

धारण करने योग्य पण्डित के लक्षण—

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥
(महाभा० उद्योग० प्रजागार० अ० ३२ । ३,५)

किसी बात को शीघ्र समझ जाना, देर तक सुनना—सुनने में उतावला न होकर पूरी बात देर तक सुनना, किसी विषय या वस्तु को समझ कर अनुकूल लाभप्रद को सेवन करना, विना विचारे कामनावश सेवन न करना, दूसरे के बीच में विना पूछे न पडना-हाथ न डालना-न बोलना । यह पण्डित की पहचान है । ये पण्डित बनने के लिये धारण करने योग्य हैं । ये गुण विद्या की वृद्धि में साधक हैं ।

प्रत्येक विषय में या अवसर पर प्रवृत्त होने वाली वाणीवाला, विचित्र—मौलिक ढंग से कथन करने वाला, तर्कशक्तिवाला, प्रतिभा स्मृति शक्ति वाला या सुबुद्धि, ग्रन्थ या विषय का तुरन्त यथार्थ वक्ता जो है वह पण्डित है ।

बुद्धिमान् बालक, पशु पक्षी प्राणियों और जडवस्तुओं तक से शिक्षा ले लिया करते हैं । हंस से निर्मलता और सत्यासत्य विवेक कर सत्य के ग्रहण असत्य के त्याग की । कोयल से मीठे वचन । फलवान् वृक्ष से सौजन्य की । नदी से प्रगति की शिक्षा ले लेते हैं ।

त्यागने योग्य मूर्ख के लक्षण—

मूर्खस्य पञ्च चिह्नानि गर्वो दुर्वचनं तथा।
हठी चैव विषादी च परोक्तं नैव मन्यते ॥

गर्व करना—अपनी विद्या धन सत्ता आदि पर गर्व करना; दूसरों को हीनदृष्टि से देखना; दुर्वचन—अपशब्द एवं कठोर वचन बोलना; हठ करना—अपनी अयुक्त बात पर अड जाना, दुःखी रहना; अप्रसन्नमन वाला बने रहना; दूसरों के कहे युक्त वचन को भी न मानना; ये पांच लक्षण मूर्ख के हैं। ये दोष विद्या के विरोधी हैं क्योंकि ऐसे दोषों से युक्त को कोई विद्या नहीं पढाता और पढी विद्या स्वयं बढा नहीं पाता है।

तथा—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढचेतो नराधमः ॥

(महाभा० उद्योगप० प्रजागार अ० ३२)

विद्या शास्त्र न पढ़ सुनकर गर्वित हो विद्या की डींग मारे, दरिद्र होकर भी बडे बढे मनोरथ रखने वाला, बिना कर्म के पदार्थों, अभिप्रायों को चाहने वाला बुद्धिमानों के द्वारा मूढचित्त कहा जाता है। ऐसी बातें विद्याध्ययन तथा विद्यावृद्धि में बाधक हैं।

पुरुषार्थ

मानव विद्यासम्पन्न विद्वान् होता हुआ भी पुरुषार्थहीन हो तो वह अपने कार्य को साध नहीं सकता है। पुरुषार्थ और विद्या का एक ऐसा जोडा है जैसे गाडी के दो पहियों का होता है। जैसे एक ही पहिए से गाडी नहीं चल पाती इसी प्रकार विना पुरुषार्थ के विद्वत्ता सफल नहीं होती। कहा भी है—

यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं* न सिद्धयति॥

(खादिर गृह्यसू०)

अथवा विद्या और पुरुषार्थ का ऐसा जोडा है जैसा घोडे और गाडी का—

---

*"विद्वांसो हि देवाः" (शत० ३।७३।१०) देवों-विद्वानों का गुण दैव—विद्वत्त्व।

यथाश्वा रथहीनाः स्यूरथो वाश्वैर्विना यथा ।
एवं तपस्त्वविद्यस्य विद्या वाप्यतपस्विनः ।।

(वसिष्ठ धर्मसूत्र० १ । २६ । १८)

जैसे रथहीन घोड़े या घोड़ों के विना रथ कार्य्य नहीं साध सकते इसी प्रकार विद्या से रहित का तप-पुरुषार्थ या पुरुषार्थ-रहित की विद्या कार्य का साधक नहीं।

प्रयत्न करने का अवसर—

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो -
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् ।

(वैराग्यशतक ७६)

जब तक शरीर स्वस्थ है-रोगरहित है, जब तक बुढापा दूर है, जब तक इन्द्रियों-हाथ पांव आदि की शक्ति बनी हुई है; जब तक आयु है तब तक अपने कल्याणार्थ विद्वान् को महान् प्रयत्न करते रहना चाहिए।

आलस्य से दूर रहना—

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः ।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति ।।

(नीतिशतक ८३)

आलस्य शरीर में रहता हुआ मनुष्य का महान् शत्रु है।

उद्यम के समान बन्धु नहीं। उस (उद्यम) को करता हुआ मनुष्य दुःख नहीं पाता है।

आलस कबहु न कीजिए आलस अरि सम जानि।
आलस से विद्या घटे सुख सम्पत्ति की हानि॥
आलस है बिन रोग को महारोग नर देह।
आलस ही तें नसत हैं सुख सम्पत्ति अरु गेह॥

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकापवादभीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिणः॥
(महाभार० शान्ति० आपद्धर्म अ० १४० । २३)

आलस्यवान् जन अपने अभीष्टों को प्राप्त नहीं कर पाते, न नपुंसक, न अभिमानी, न लोकापवाद से डरे हुए और न ही सदा प्रतीक्षा करने वाले अपने अभीष्ट को प्राप्त किया करते हैं।

आलस्य तो वस्तुतः "जीवतो मृतिः" (हितोक्तिः) जीवित रहने वाले के लिए या जीते हुए के लिए भी मौत है। वेद में कहा है "जीवतां ज्योतिरभ्येहि" (अथर्व० ८ । २ । २) जीवितो की ज्योति अर्थात् तेज को प्राप्त हो ।

अतएव आज का कार्य्य कल पर मत छोडो—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वास्य न वा कृतम्॥
अद्यैव कुरु तच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यागान्महान्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति॥
(महाभार० शान्ति० मोक्ष० अ० २७७ । १३, १४)

जो कार्य कल करना है उसे आज कर लेना ठीक है। सायं जो करना उसे प्रातः करना चाहिए क्योंकि मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती कि वह कार्य कर चुकने पर ही आयगी। उसे जब आना है आ ही जायगी, चाहे कार्य किया हो या न किया हो। आज ही कर ले तो कल्याण है। महान् काल तुझे अतिक्रान्त न कर दे—कार्य करने का अवसर ही न दे; क्योंकि कौन जानता है कि आज किस का मृत्युकाल होगा।

काल करे सो आज कर आज करे सो अब।
पल में परले होयगी फिर करेगा कब॥

मानव कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र और सर्वथा समर्थ है। अपनी कार्य्यशक्तियों को स्वयं समर्थ बनाया करता है। यह वेद में कहा है—

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व
स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न सन्नशे॥

(यजु० २३।१५)

हे बलसम्पन्न मानव ! तू अपने शरीर को समर्थ बना—शरीर के प्रत्येक कार्य्यसाधक अङ्ग को शक्ति-सम्पन्न कर पुनः उन्हें कार्य्यक्षेत्र में लगा और फल भी स्वयं प्राप्त कर। अपने अङ्गों को स्वयं समर्थ बनाने तथा कार्यक्षेत्र में लगाने एवं स्वयं फल प्राप्त करने के अधिकार को कोई नष्ट नहीं कर सकता।

क्या आप जानते हो कि पैरों में जो चलने की शक्ति है वह आपने स्वयं ही उत्पन्न की है। शैशव काल में बालक के अन्दर

उठने और चलने के लिए भीतरी इच्छा और उसके अनुसार प्रयत्न होने से ही वह उठता है और गिरता है एवं चलता और फिर गिरता है। इस प्रकार उठ उठ कर गिर गिर कर और चल चल कर गिर गिर कर पैरों में चलने की शक्ति को स्वयं ही उत्पन्न कर लिया। ऐसे ही अन्य अङ्गों में भी शक्ति को स्वयं उत्पन्न करता है। बुद्धि की शक्ति भी विद्या के अध्ययन और मनन से प्राप्त करता है। अकर्मण्य हो जाने पर तो प्राप्त शक्ति भी नष्ट हो जाया करती है। अपने प्रत्येक कार्य करने में स्वतन्त्र होना यह मानव की ही विशेषता या सम्पत्ति है इसकी रक्षा करना और इसे बढाना मानव का कार्तव्य है अन्यथा जडजीवन या जान्तव जीवन की ही ओर अपने को ढालना है। अतएव स्वालम्वी होकर कर्मशीलता के साथ अपनी आशा आकांक्षा को पूरा करे। वेद में कहा है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्॥

(अथर्व० ७।५२।८)

कर्म मेरे दक्षिण हाथ में है तो विजय या फल वाम हाथ में है, मैं गौओं का भूमि का विजेता हो सकूं और घोडों का राष्ट्र का विजेता बन सकूं, धन और सम्पत्ति का विजेता हो सकूं, अर्थात् मैं कर्मशील सर्वत्र अवश्य सफलता प्राप्त कर सकता हूं। कर्महीन आशावाद शेखचिल्लियों जैसा तो नाश का कारण बना करता है कर्मशील होना शूरवीर बनना है "शूरस्य दैवम-

नुकूलम्" (हितोक्ति:) शूरवीर के तो परोक्ष एवं परलोक भी अनुकूल हो जाया करता है।

वस्तुतः —

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि हन्यमानाः।
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(नीतिशतक २७)

नीच जन कार्य को विघ्न से डरकर प्रारम्भ नहीं किया करते हैं, मध्यम पुरुष कार्य आरम्भ करके विघ्नों के प्रहार से कार्य को बीच में अधूरा छोड देते हैं, उत्तम जन विघ्नों से वार वार ताडित हुए भी प्रारम्भ किए हुए कार्य को नहीं छोडते किन्तु पूरा करके रहते हैं।

अतः—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजु० ४० । २)

इस संसार में मनुष्य कर्मों को निरन्तर करते हुए तथा कर्मों को करने के हेतु ही सौ वर्षों तक—अधिक से अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करे तथा जीवित रहना चाहिए।

दीर्घजीवन की प्राप्ति कर्मशीलता पर निर्भर है, कर्महीन निकम्मा रहने से दीर्घजीवन नहीं होता है। दो पहिए की साईकल में कर्म—क्रिया—गति रहने से आरोहक (सवार) को आगे

लिये चलती है क्रिया बन्द हो जाने पर साईकल और सवार धडाम से नीचे गिर जाते हैं। मानव को जीने की इच्छा करनी चाहिए न कि आत्महत्या करना, आत्महत्या करना तो दूर रहा मरने की इच्छा करना भी पाप है मानवता के विपरीत है। अकर्मण्य अज्ञ मूर्ख जन थोडी सी असफलता में आत्महत्या के लिये तैयार हो जाता है। अरे! कैसा भोला है अपनी कर्महीनता से असफल होने पर आत्महत्या करता है। अरे! कितना कायर है कर्मशीलता से भागता है, कर्म करता रहता तो एक दिन कर्म की पूर्णता पर सफल होता ही। अच्छा मर कर क्या मिलेगा? जीते हुए सफलता न प्राप्त करी तो क्या मरकर सफलता मिल जावेगी? कभी नहीं। तेरी अभीष्टसिद्धि के लिये संसार भरा पडा है सुन्दर से सुन्दर सहयोगी वस्तुएं और अवसर संसार में हैं उनकी कमी नहीं है।

सकल पदारथ हैं जग माहीं।
कर्महीन नर पावत नाहीं॥

कर्मशील योग्य बनकर सफलता प्राप्त कर। कायरता की शरण लेना मानव जन्म को कलङ्क लगाना है। मानव का जीना भी तो कर्मों को करने के हेतु है, मानव का जीना जीनेमात्र के लिये नहीं है। अरे प्यारे! तू आत्मकल्याणसाधक और परदु:खनिवारक सर्वहितसाधक कर्म करने के लिये जी। अतः कर्मशील बनर ऐसे कर्म कर जिससे तू स्वयं उन्नत हो औरों को उन्नत कर सके॥



[४]

अनुशासन

अनुशासन शव्द का अर्थ राजनैतिक और धार्मिक आदेशों का पालन करना है। राजनैतिक क्षेत्र में शासन राज्यप्रशासन—राजनय को कहते हैं और उसके अनुसार होना उसे शिरोधार्य करना अनुशासन में रहना है। यद्यपि प्रत्येक आश्रमी को शासन के नीचे रहना अनुशासन का निभाना कर्त्तव्य है तथापि विद्यार्थियों को अनुशासन में रहना-राजनयिक व्यवस्थाओं का उल्लङ्घन न करना या न तोडना परम आवश्यक है क्योंकि उनका क्षेत्र विद्योपार्जन है यदि राजनयिक व्यवस्थाभङ्ग के प्रपञ्च में पड जावेंगे तो विद्योपार्जन से वञ्चित हो जावेंगे अपने इस उन्नतिपथ से विचलित होकर अपनी महती हानि करेंगे। धार्मिक क्षेत्र में माता पिता आचार्य एवं मान्यजनों का अभिवादन सम्मान, उनकी आज्ञा पालन करना, विशेषतः आचार्य या गुरु का प्रियाचरण करना कभी उससे वैर न करना इनके आदेश को शिरोधार्य करना अनुशासन

कहाता है। यह सब महाभारत के अनुशासनपर्व में बतलाया गया है। विद्यार्थियों के व्रत भी अनुशासन कहलाते हैं जैसाकि तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य""मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।" एष आदेश एष उपदेश एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासम्" (तै० प्र० ७। अनु० ११। कं० १-४) अर्थात् सत्य बोलना धर्म का आचरण करना स्वाध्याय से प्रमाद न करना आचार्य के लिये प्रिय धन देना माता पिता आचार्य अतिथि को देव मान उनका सत्कार करना। इत्यादि यह आदेश है यह उपदेश है यह वेद का रहस्य है यह अनुशासन है।

विद्यार्थियों के आचरणीय अनुशासन का सम्बन्ध विशेषतः आचार्य या गुरु के साथ है अतएव उसका उन्हें विशेष ध्यान रखना चाहिए। जो निम्न प्रकार है।

गुरु के प्रति सद्व्यवहार—

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथासीत् न वासुप्ते प्रस्वपेत च॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदु स्पृशेत्।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीडयेत्॥
अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति।
(महाभारत शान्ति० मोक्ष० २४२। २१,३२)

गुरु जब तक न खा लेवे तब तक न खावे, जब तक पी न ले

तब तक न पीवे। गुरु जब तक न बैठे तब तक न बैठे। जब तक न सोये तब तक न सोये। खुले दोनों हाथों से गुरु के पैरों को कोमल स्पर्श करे। दक्षिण पैर को दक्षिण हाथ से, वाम पैर को वाम हाथ से दबावे। अभिवादन-नम्रता से प्रणाम या नमस्ते करके भगवन् मुझे पढावें ऐसी प्रार्थना करे।

तथा—

आचार्यस्याप्रतिकूलः। (काठक गृह्य सूत्र० १। १९)

आचार्य के प्रतिकूल न हो।

और भी—

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्त्तव्यः कदाचन ॥

(महाभारत अनुशा० अ० १०४। ८०)

गुरु के साथ कभी वैर विरोध न करना।

गुरु के प्रति सद्व्यवहार करना शिष्य का परम धर्म है। जब कि गुरु का इतना प्रियाचरण करना कि उनसे प्रथम खाना पीना नहीं, उनसे पहिले बैठना सोना नहीं। उनका चरणस्पर्श कर प्रणाम करना कभी उनके प्रतिकूल न होना, उनसे कभी वैर विरोध न करना आदि विधान है। तब अपनी अकर्मण्यता अपुरुषार्थता के कारण परीक्षा आदि में गुरुद्वारा लगाये नियन्त्रण को तोडना उन्हें पीटना, उनके प्राण लेना महापातकता महती अनुशासन-हीनता और राष्ट्रीय सामाजिक तथा धार्मिक घोर अपराध है क़साईपना और पशुता है।

अपितु—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधि-
ष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया
वीर्यवती तथा स्याम् ॥ (निरु० अ० २ । ख० ४)

विद्या ब्राह्मण के पास गई बोली मैं तेरा कोष हूं मेरी रक्षा कर निन्दक असरल और अजितेन्द्रिय के लिए मेरा उपदेश न देना जिससे मैं बलवती रहूँ ।

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रय-
च्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत
कतमच्चनाह ॥ (निरुक्त० २ । ४)

जो गुरु दुःख न देते हुए अपितु अमृत प्रदान करने के हेतु ज्ञान से कानों को खोलता है उसे माता और पिता भी माने उसके प्रति किसी दिन भी द्रोह-वैर न करे ।

अनुशासन पालनार्थ पञ्चम षष्ठ और सप्तम प्रकरण भी देखें ।



[५]

माता पिता एवं मान्यों का सम्मान

माता पिता की भक्ति—

वेद में कहा है कि "अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः" (अथर्व० ३।३०।३) सन्तान को माता पिता के अनुरूप—अनुकूल आज्ञाकारी होना चाहिये। पिता के सत्कर्मों का अनुसरणकर्ता और माता की सद्भावनाओं का जीवन में ढालने वाला होना चाहिये।

अभिवादन—

बालकों एवं छात्रों के अन्दर माता पिता आचार्य तथा मान्यजनों का सम्मान होना चाहिये। सर्वप्रथम उनके सम्मान का आचार शिष्टाचार है। उनको अभिवादन करना, प्रातः उठकर और सायं तथा प्रथम मिलने पर एवं विदा होते समय भी नम्रता के साथ प्रणाम या नमस्ते करना चाहिये। ऐसा करने से बालको को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मनुमहाराज ने कहा है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम् ॥
(मनु० २ । १२१)

अभिवादनशील नित्य वृद्ध जनों की पूजा करने वाले बालक के आयु, विद्या, यश और बल, ये चारों बढा करते हैं ।

मान्य जनों की पूजा सत्कार, अभिवादन करेंगे तो वे प्रसन्न होंगे, प्रसन्न होकर अपनी कृपा बरसावेंगे । अपनी लम्बी आयु होने के अनुभव बतलायेंगे । अपनी विद्या को प्रदान करेंगे । अपने सद्व्यवहारों का आदर्श उपस्थित करेंगे । वैसा यश तथा उनकी पूजा आदि से जगत् में यश पावेंगे और बल स्वास्थ्य भी उनकी सेवा से स्वतः बढेगा ही । उस अभिवादन का प्रकार है—

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यमथाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥

माता पिता आचार्य तथा मान्य जन को आते हुए देखकर उन्हें प्रथम ही अभिवादन अर्थात् नम्रता से प्रणाम या नमस्ते करें, ऐसा करने से बालक आयु को प्राप्त करता है ।

मान्यमहानुभावों को देखने पर सहसा बालक के अन्दर भय संकोच लज्जा और स्तब्धता आ जाया करती है । उससे श्वास की गति में रुकावट या उखडापन सा हो जाता है । नम्रता से प्रणाम या नमस्ते करने पर जहां वह अपनी ठीक स्थिति में श्वास आजाता

है। साथ ही उसे उत्साह और बल भी प्राप्त होकर आयुवृद्धि का लाभ मिलता है।

अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात्॥
(महाभार० अनु० अ० १०४। ६६, ६७)

वृद्धों-मान्यों को अभिवादन करे और स्वयं अपने हाथ से उनको आसन दे। उनके लिये आसन बिछावे कुरसी आदि रखे। हाथ जोडकर बैठे, जाते हुए के पीछे चले।

बडों के बैठने के लिये अपने हाथों से आसन बिछाना कुरसी आदि रखना, उनका स्वागत करना है। बैठ जाने पर भी अपना नम्र भाव प्रदर्शित करने उनके मान करने के लिये हाथ जोडकर कुछ कहना और उनसे सुनना उचित शिष्टाचार है। जाते समय भी कुछ दूर तक पीछे जाना या साथ जाते हुए पीछे पीछे चलना भी शोभनीय व्यवहार है।

अन्य सत्कार—

त्वङ्कारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत्।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति॥
(महाभार० शान्ति० मोक्ष० २०५। २५)

बडों को तू कहना या उनका नाम छोड देना चाहिए हाँ छोटों और समान जनों को तू कहने उनका नाम लेने में दोष नहीं है।

वृद्धान[illegible]भवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति ।
[illegible] त्वमिति ब्रुयादापन्नो ऽपि महत्तरम् ।
त्वङ्कारो वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥

(महाभा० अनुशा० आ० १६२ । ४६, ५३)

बड़ों को कभी दबावे नहीं, न उन्हें नौकरों जैसा आदेश दे। कठिन विपत्ति में भी उन्हें तू कह कर न बोले। विद्वानों में तू कहने और वध करने में कोई भेद नहीं है।

सामान्य सद्वर्तन—

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥
मार्दवं सर्वभूतेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।
वाक् चैव मधुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥

(महाभार० शान्ति० मोक्ष० २८७ । १६, १७)

पापकर्म से पृथक् रहना, पुण्यशीलता बनाये रखना; सत्पुरुषों से सम्पर्क मेल जोल रखना, निःसन्देह कल्याणकर है। समस्त प्राणियों के निमित्त कोमल स्वभाव, सारे व्यवहारों में सरलता और मधुर वाणी प्रयुक्त करना, यह निःसंशय कल्याणकर है।

तथा—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
वृद्धबालातुरैर्वैद्यज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥

मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥

(महाभारत शान्ति० मोक्ष० २४३ । १४,१५)

ऋत्विक् , पुरोहित, आचार्य, मातुल (मामा), अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, वैद्य-डाक्टर, वंशज, सम्बन्धी, बान्धव, माता, पिता, बहिन, भ्राता, पुत्र, पत्नी, पुत्री और सेवक के साथ विवाद नहीं करे ।

निजी शिष्टाचार

निषिद्ध अन्यथाङ्ग चेष्टायें—

बालकों में कुछ अन्यथा चेष्टा करने का स्वभाव पड जाता है, उनकी अकर्मण्यता निर्बुद्धिता अज्ञता के कारण। उनके करते हुए बालक अच्छे नहीं लगते और वे असभ्य अशिष्ट समझे जाते हैं साथ ही अपने लिये तथा अन्यों के लिये हानि करते हैं। उन अन्यथा चेष्टाओं का अभ्यास बढ जाता है तो बडे होने पर भी वे बनी रहती हैं फिर उनका छूटना दुष्कर हो जाता है।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो भवेत्।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचरः॥

(वसिष्ठ धर्म० १६। ४२, महा० आश्व० ४५। १८)

बैठे बैठे अकारण हाथ पैर हिलाना आंखें फरेकाना-मटकाना वाणी से कुछ न कुछ बोलते रहना, प्रलाप करना अप्रासङ्गिक-अट्टाहास करना शरीर लचकाना आदि चपलता चञ्चलता की अन्यथा

चेष्टाएं नहीं करनी चाहिए ।

ऐसी अन्यथा चेष्टाओं से अपने लक्ष्य से मनुष्य च्युत हो जाता है।

छेदनभेदनविलेखनावस्फोटनानि नाकस्मात् कुर्यात् ।

(गौतम धर्म सूत्र ६ । ३७)

निष्प्रयोजन कहीं छेद करना तृण आदि को तोडना भूमि आदि में रेखाएं खींचना-कुरेदना किसी वस्तु को फोडना नहीं चाहिये ।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखनखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥

(महा० शान्ति० मोक्ष० २०५ । १३ अनु० १०४ । १५)

मिट्टी के ढेले को अन्यथा बैठे बैठे मसलने वाला सदा तिनका तोडने वाला नाखून खाने वाला—दान्तों से नाखून कुतरने वाला तथा झूठे मुख वाला और संकीर्ण जन आयु को प्राप्त नहीं करता है।

न जल्पन्ति च भुञ्जाना न निद्रान्त्यार्द्रपाणयः ।

(महा० अनुशा० अ० १६२ । ३६)

खाते हुए बहुत नहीं बोलते हैं न गीले हाथ सोते हैं ।

लोकसिद्ध शिष्ट व्यवहार—

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः ।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥

(महा० शान्ति० मोक्ष० १६२ । ३)

राजमार्ग में, गोशाला—गौओं के मैदान में, अन्नभण्डार अन्न के ढेर में जो जन मूत्र और पुरीष-मल त्याग नहीं करते वे शुभ हैं शिष्ट हैं, विपरीत निकृष्ट अशिष्ट हैं। बच्चों के मल को खिडकी से बाहिर भी अनेक जन मार्ग पर फैंक देते हैं कभी कभी भद्र जनों पर गिर जाता है ऐसा करना अभद्रता है।

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन॥
निषण्णश्चापि न खादेन्न तु गच्छन् कदाचन॥
(महा० अनुशा० अ० १०४। ५२, ५४)

खेत—खडे अन्न के खेत में, ग्राम के पास में, जलाशय या नदी के अन्दर मूत्र और पुरीष-मल त्याग कभी नहीं करना चाहिये। बैठ कर खाना चाहिये चलते हुए नहीं।

अनेक जन चलते चलते खाते हैं, केला और आम का छिलका आदि मार्ग पर फैंक देते है पीछे आने वाला व्यक्ति फिसल जाता है चोट खाता है इसका ध्यान नहीं करते यह ऐसा करना ठीक नहीं है।

न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन।
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोऽपि संविशेत्॥
केशग्राहं प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत्।
काले च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत्॥
(महाभा० अनुशा० १०४। ५१,६८)

नंगा—सर्वथा नंगा हो कर भी स्नान नहीं करना चाहिए रात्रि को भी स्नान नहीं करना चाहिये। नंगे शरीर और झूठे मुख नहीं सोना, न केश पकड कर शिर पर प्रहार करना, दुर्गन्धयुक्त स्थान में मन से चिन्तन भी नहीं करना।

लोकहित को दृष्टि में रखते हुए उक्त शिष्टाचारों का सेवन करना चाहिये।

स्वास्थ्यसम्बन्धी शिष्टाचार—

स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः।
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः॥

(महा० अनु० अ० १०४। ५१, ५२)

बुद्धिमान् जन स्नान करके अङ्गों पर उबटना या मालिश न करे, न गीले वस्त्र सदा पहिने।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादः संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणां जीवते शतम्॥

(महा० अनु० अ० १०४। ६५)

गीले पैर—पैर धोकर भोजन करे, पैर धोकर सोवे नहीं। पैर धोकर खाने वाला सौ वर्ष तक जीता है।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन॥

(महाभा० अनु० अ० १०४। ४९)

न टूटे हुए और न पुराने पलंग पर सोवे, न वस्त्र से मुख

छिपाये हुए सोवे, न किसी भित्ति आदि से सटे हुए पलंग पर सोये और न टेढे ढंग से सोये ।

नैवेक्षेतादित्यमुद्यन्तं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥
(महा० अनुशा० अ० १०४ । १७)

उदय होते हुए, अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए सूर्य को न देखे तथा जल में प्रतिबिम्बित और आकाश के मध्य गये सूर्य को भी न देखे ।

स्नान करके उबटन करना, मालिश करना, गीले वस्त्र पहिनना, पैर धोकर सोना, टूटे पुराने पलंग पर सोना, टेढे मेढे सोना अहितकर है, ये शारीरिक रोगों को उत्पन्न करनेवाले हैं । उदय होते हुए, अस्त होते हुए, ग्रहण लगे हुए एवं जल में प्रतिबिम्वित और मध्याकाश में पहुंचे हुए सूर्य को देखने से नेत्ररोग, अन्ध-दृष्टि, दृष्टिनाश, मस्तिष्क रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में सूर्य को सीधे न देखने का यह शिष्टाचार बतलाया है। पैर धोकर सोना दीर्घायु का हेतु भी दर्शाया है ।

सभासम्मेलन का शिष्टाचार—

किसी सभा सम्मेलन में प्रवेश करने से पूर्व मल-सूत्र से निवृत्त हो लेना, मुख हाथ शोध लेना चाहिये । अपने वस्त्रों को भी देख लेना चाहिये कि कहीं गन्दे या फटे हुए तो नहीं । सभा-योग्य उचित वस्त्र ठीक पहिन लेना चाहिये । टोपी साफे को देख लेना चाहिये ठीक पहना या बन्धा है कि नहीं । शिखा बाहर तो

नहीं है। या नंगे शिर शिखा बिखरी हुई तो नहीं है।

सभा सम्मेलन के प्रवेश द्वार से अन्दर जाना, इधर उधर से फांद कर नहीं। यथायोग्य स्थान में बैठे। बालकों, बालिकाओं या स्त्रियों या अन्य प्रतिष्ठित वर्ग के स्थान को देख लें। जहां अपना स्थान हो वहां बैठे। भिन्न वर्ग में नहीं, जहां से फिर उठना न पड़े। सभापति या महामान्य नेता के आने पर 'स्वागत घोष' करे। सभा में शान्त सुने, बोले नहीं। वार वार आवें जावें नहीं। खांसी, जम्हाई आने के समय रूमाल या हाथ मुख के सामने रख लें।

शिष्ट गुणाचार

ऊँचे गुण शिष्ट गुण हैं जिनको जीवन में धारण करने से मनुष्य संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं वे महात्मा, महापुरुष बन जाते हैं ।

शिष्ट जनों के गुण—

शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः ।

(बोधायन धर्मसू० १ । १ । ५)

शिष्ट जन मत्सररहित–ईर्ष्या से रहित, अहंकार न करने वाले, गम्भीर, उदार और शान्त होते हैं । तथा छल, गर्व, लोभ, क्रोध से भी बचे हुए होते हैं ।

उक्त गुणों से मानव शिष्ट कहलाता है और मान पाता है । और "यच्चात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभमोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत्" (गौतम धर्म० ६ । ६२) । जो आत्मज्ञानवान्–ईश्वरोपासक, वृद्ध, विनयसम्पन्न, छल लोभ से रहित, वेदवेत्ता महात्मा जन आदेश उपदेश करें उसका आचरण

करना चाहिये ।

सत्पुरुषों की संगति भी करनी चाहिये उससे लाभ होता है—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥
(नीतिशतक २३)

सत्संगति बुद्धि की जडता को नष्ट करती वाणी में सत्य का सञ्चार करती मानवृद्धि को प्रेरित करती पाप को दूर करती चित्त को प्रसन्न करती दिशाओं में सब ओर कीर्ति को फैलाती है और मनुष्य का क्या नहीं करती अर्थात् सब कुछ साधती है ।

आयुवर्धक गुणाचार—

अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ।
(महाभा० अनुशा० १६३ । १२, १६७ । १४)

अहिंसा से ऋषि बनते हैं* और उन ऋषि मुनियों ने अहिंसा के आचरण से दीर्घायु की प्राप्ति की है ।

आमिषप्रतिसंहारात् प्रजा ह्ययुष्मती भवेत् ।
(महाभा० अनुशा० ५७ । १७)

मांस के त्याग से-मांस को न खाने से लोग आयुवाले हों ।

मांस विना हिंसा के प्राप्त नहीं होता क्योंकि "न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलद्वापि जायते । हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्

*यह यहां आकांक्षा है ।

दोषस्तु भक्षणे ।।" (महा० अनुशा० अ० ११५ । २६) मांस कोई तृण-घास से या काष्ठ से या पत्थर से प्राप्त नहीं होता किन्तु प्राणी को मार कर मिलता है अतः उस के भक्षण में दोष है-आयु के क्षीण होने का भी दोष है । और फिर "जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् । यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।।" स्वयं जीना चाहे कैसे अन्य को मारे यह नितान्त विपरीत आचरण है जो जो अपने लिये चाहे उस उस को दूसरों के लिये भी सोचो । मांस खाना आयुर्वेद या डाक्टरी की दृष्टि से आयु का कम करने वाला है यह तो अलग बात है परन्तु मांस हिंसा-अन्य प्राणियों के आयु को क्षीण करके मिलता है, इस बात का मनोवैज्ञानिक प्रभाव आयु को कम करता है । यह बात सिद्ध है कि दूसरे प्रणी को तडपते देख कर हृदय में आघात हुआ करता है और किसी तीव्रतर घटना को देख कर तो मूर्च्छा और हृदयगतिभङ्ग (हार्ट फेल) तक हो जाता है । यह तो साक्षात् आयु की समाप्ति है ही । आयु न भी समाप्त हो पर आयु में कमी आ जाना तो स्वाभाविक है ही । मांस की प्राप्ति हिंसा से होती है यह तो ज्ञान है ही तब कारण का चित्र या घटना का चित्र सामने होता ही है उस का भी मनोवैज्ञानिक प्रभाव आयु को कम करता ही है । तीव्रतर घटनाओं को सुन लेने से या उन का ध्यान आ जाने पर मानव स्तब्ध हो जाता है सुध बुध भूले जाता है खेद से शोक से लम्बी आह भरता है प्राण पखेरू तक इस आह में निकल जाता है । खेद शोक चिन्ता तो आयु के कम करने का कारण

बनता ही है ।

प्रसङ्गतः यह भी समझ लेना चाहिये कि हिंसा विश्वशान्ति को भङ्ग करने वाला कृत्य है। आज सब मानव और राष्ट्र चाहते हैं कि विश्व में शान्ति स्थापित हो पर नहीं होती कारण है मानव मांसाहार के लिये क्रूर बन गया, । हिंसा करता क्रूर कर्म है उस में यह पूर्ण अभ्यस्त हो चुका मानव तक के मारने को उद्यत हो गया, क्यों ? प्रत्येक कार्य का अभ्यास करते करते बढा करता है । प्रथम छोटी छोटी चोरियां मनुष्य करता है फिर बडी पुनः और बडी करता, बढते बढते अभ्यास के बडी बडी चोरी करता है और डाके डालता है । ऐसे ही हिंसा क्रूर कर्म प्रथम चिडिया पर होता है उसे मार डालने का, फिर बडे पक्षी और मुर्गे तक फिर बकरे और गौ बैल मार डालने तक की क्रूरता का अभ्यास हो जाता है यही बढा हुआ क्रूरता का अभ्यास मनुष्यों के मारने तक पहुंच गया । यदि लोग मांस खाना छोड दें तो विश्व में से यह क्रूरता समाप्त होकर सर्वत्र शान्ति हो जावे ।

तथा—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥

अक्रोधनः सत्यवादी च भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

(महाभा० अनु० १०४ । ६-८, १४)

सदाचार से मनुष्य आयु को प्राप्त करता है सदाचार से शोभा को प्राप्त करता है और सदाचार से इस जीवनकाल में तथा मर कर भी यश को प्राप्त करता है। दुराचारी जन आयु को प्राप्त नहीं करता है किन्तु सदाचार तो पूर्व पापाचरण करने वाले के दोषों को नष्ट कर देता है। क्रोधरहित सत्यवादी अहिंसक अनिन्दक अकुटिल सौ वर्ष तक जीता है।

क्रोधी उत्तेजनावश, असत्यवादी भयभीत, हिंसक क्रूरतावश, निन्दक भयवश, कुटिल विचलितमनवाला होने से अधिक आयु को प्राप्त नहीं कर सकता।

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगे निशायामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति ॥

(महाभा० अनुशा० १०४ । १३९)

दिन में सोना सूर्योदय पर सोना सायं शीघ्र सोना झूठे मुख सोना आयु घटाने वाले हैं।

ब्रह्मचर्येण जीवितम् । (महाभा० अनुशा० ५७ । १०)

ब्रह्मचर्य से जीवन—दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

त्यागने योग्य कदाचार—

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।

स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते सप्त दोष : स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥

(महाभा० उद्योग० प्रजा० ३२)

विद्यार्थियों को हानि पहुँचाने वाले सात दोष जो त्याग देने चाहिए वे हैं आलस्य, मद—भांग सुरा आदि मादक वस्तु सेवन, मोह, चञ्चलता, गोष्ठि—व्यर्थ प्रहाससभा, जडता, अभिमान और लोलुपता। जो विद्याप्राप्ति एवं विद्यावृद्धि में बाधक हैं।

षड् दोषाः पुरुषेण हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ।
प्रभवन्ति विघाताय कार्यस्यैते न संशयः ॥

(शुक्रनीति० ३ । ५५)

कल्याण चाहने वाले मनुष्य को छः दोष छोड देने चाहिएं निद्रा, तन्द्रा—नींद में भरा सा रहना, भय, क्रोध, आलस्य, दीर्घ-सूत्रता–टालमटोल। ये कार्य में विघ्न करने वाले हैं।

दोष प्रादुर्भाव के कारण—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशा बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

(महा० भगवद्गीता० २६ (३) ६१-६२)

विषयों को मन में सोचते हुए मनुष्य का विषयों में राग-रुचि

हो जाती है, राग-रुचि से कामवासना जाग जाती है; काम वासना से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से सम्मोह-भ्रम और भ्रम से बुद्धि का नाश, बुद्धि के नाश से मानव नष्ट हो जाता है।

तथा—

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते।
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते॥
सङ्कल्पाज्जायते कामः सेव्यमानो विवर्धते।
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति॥
प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात् तस्य देहिनः।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति॥
अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा विनिवर्तते॥
(महाभा० शान्ति० आरण्य० अ० १६३। ७, ११, १३, २१)

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है लोभ करने योग्य वस्तु की प्राप्ति में बाधक दूसरों के दोषों से, उन पर क्षमा करने से शान्त हो जाता है और क्षमा से सदा के लिये निवृत्त हो जाता है। संकल्प-इच्छा से कामवासना बढती है, इच्छा को समाप्त कर देने से तुरन्त नष्ट हो जाती है। प्रीति प्रेम से शोक उत्पन्न होता है जबकि उस प्रेमपात्र का वियोग हो जाता है, किसी से प्रेम करना निरर्थक जानने पर तुरन्त वह प्रेम नष्ट हो जाता है। वह लोभ जो क्रोध का मूल है वस्तुतः उक्त समस्त दोषों का मूल हुआ,

कवि ने कहा भी है "लोभ मूल है दुःख को लोभ पाप को बाप। लोभ फंसे जो मूढजन सहैं सदा सन्ताप ॥" यह लोभ मनुष्य के अन्दर अज्ञान से होता है। भोगों की अस्थिरता को देखकर ज्ञान कर अज्ञान दूर हो जाता है।

क्रोध का परिणाम—

क्रोधवश मनुष्य अस्वाभाविक रूप में होजाता हैं। अनेक अकार्य कर बैठता है, बन्धुबान्धव के नाश पर भी तुल जाता है। अपने जन को भी पराया बना लेता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य क्रोधान्ध होजता है बहिरा बन जाता है उस समय हित की बात भी अच्छी नहीं लगती, बुद्धिमान् होता हुआ भी सब पढे लिखे को भूल जाता है, पाप कर बैठता है गुरु तक की हिंसा पर तुल जाता है। मान्य व्यक्तियों का भी कठोर वचन से अपमान करता है। माता पिता भ्राता मित्र को भी क्रोधाविष्ट जन मार डालता है ❀ क्रोध को महान् शत्रु कहा है। अतः क्रोध को न

❀ अन्धीकरोमि भुवनं बधिरी करोमि।
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति॥
धीमानधीतमपि न सन्दधाति।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात्-क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते॥
मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
क्रोधाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्॥

आने दे आरम्भ से ही उस पर नियन्त्रण करे। उस का अभ्यास न पडने दो उसका उद्रेक होजाने पर तुरन्त शमन करे।

काम (कामवासना) का परिणाम—

कामवासना बडा भारी दोष है, जब यह किसी के अन्दर घर कर जाता है तो वह कामान्ध होकर अकार्य कर बैठता है। वेश्या आदि दुष्कर्म करने में भी उसे सङ्कोच नहीं होता। वैसे तो सभी व्यसन बुरे हैं परन्तु वेश्यागमन तो सर्वनाशकारी व्यसन है, इस से व्यक्ति का नाश वंशच्छेदन समाज का ह्रास और राष्ट्र का भी पतन हो जाता है। कामान्ध जन कामवासना की पूर्ति में अनेक सङ्कट भोगता है (आजकल आत्महत्या तक करलेता है) धन का नाश, बन्धीगृहवास, आघात सहना, पीडा, शोक, कुलनाश, थकान, कलह, मृत्यु तक को प्राप्त होजाता है, कामज्वालारूप वेश्या में कामान्ध जन अपने यौवन और धन का स्वाहा कर करदेता है तथा तप व्रत यश विद्या कुलीनता संयम बढती हुई आयु एवं स्वास्थ्य आदि ये सद्गुण कुठार से कटी लता के समान छिन्न भिन्न और नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं ❀।

❀ वधो बन्धो धनभ्रंशस्तापः शोकः कुलक्षयः।
आयासः कलहो मृत्यु लभ्यन्ते पारदारिकैः॥

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥

तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो वयः।
छिद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठारेण लता यथा॥

मद (मादक द्रव्य सुरापानादि) का परिणाम—

यह व्यसन भी बहुत बुरा है, इस से अचेतता (मूर्च्छित होजाना) गन्दी नाली तक में गिर जाना, कुत्तोंद्वारा मुख चाटा जाना, मूत्रपान तक करना। अर्द्ध चेतना में निर्लज्ज हो माता वहिन पुत्री का भी विचार न करना, मद्यसेवी असम्बद्ध प्रलाप करता है, अपने अङ्गों को असावधानी से फेंक कर नग्न तक होकर, जहां तहां अयोग्य स्थान में गिर जाता है लेट जाता है वस्तु ओं का नाश करता है नीच बुद्धि बन प्रलाप करता है, मद्यपान से मत्त हुआ अकार्य करने लगता है। अनादर के साथ माता के प्रति भी व्यभिचार की इच्छा करता है। मद्यपान से चित्त भ्रान्त होता है भ्रान्त चित्त होजाने पर पापाचरण करता है पापाचरण करके दुर्गति को प्राप्त होता है। ❀

मोह का परिणाम—

मोह भी बहुत अनर्थकारी है, मोहसे स्मृति का नाश हो जाता है मोह के पीछे अपने धन को लुटादेते हैं यश खो बैठते अपयश के भागी बनजाते हैं लज्जाहीन होजाते हैं प्रतिष्ठा गुमा

❀ अयुक्तं बहु भाषते यत्र कुत्रापि शेरते
नाना क्षिप्य गात्रणि बालका इव मद्यपाः।
मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति हि विकलया बुद्ध्या ॥
मातरमपि कामयते सावज्ञं मद्यपानमत्तः सन्।
चित्ते भ्रान्ति र्जायते मद्यपानाद् भ्रान्ते चित्ते
पापचर्यामुपैति पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा-
स्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥

देते हैं। अपने को मोह में फंसाकर निरन्तर दुःख उठाते हैं और प्राणों तक से हाथ धो बैठते हैं। ×

शोक के परिणाम—

मानव को शोक भी नहीं करना चाहिये किन्तु कर्म करते हुए फल पर निर्भर रहे—सन्तोष करे, अन्यथा शोक से अनर्थ की ओर चल पडता है, शोक से स्वास्थ्य का नाश होता है आत्महत्या तक शोकातुर कर लेता है, शोक कुछ कार्य भी नहीं करने देता है। शोक धैर्य को खो देता है शोक से पढा लिखा हुआ भी विस्मृत हो जाता है शोक सब कुछ नष्ट कर देता है।❀

त्यागने योग्य दुर्वृत्तियां—

मानव के अन्दर कुछ दुरभ्यास या दुर्वृत्तियां पशु पक्षियों के स्वभाव जैसी पड जाया करती हैं उनको प्रारम्भ काल से ही नष्ट करना चाहिये, वे दुर्वृत्तियां जिन्हें नष्ट करना चाहिए वेद में निम्न प्रकार कहीं हैं—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्रः॥ (ऋ० ७।१०४।२२)

× स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रियजने।
अतिस्नेहसंसर्गाद् वर्तिरार्द्रापि दह्यते॥
(वाल्मी, रामा० कि० १।११८)

❀ शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः॥

उल्लू की चाल को भेडिये की चाल को कुत्ते की चाल को चक्रवाक की चाल को भास (बाज) पक्षी की चाल को गृध्र की चाल को त्याग दे या उल्लू की गति वाले अज्ञानान्धकार—मोहरूप, भेडिया की गति वाले क्रूरतामय क्रोध, कुत्ते की गति वाले ईर्ष्या-द्वेष, चिडे की गति वाले कामभाव, बाज पक्षी की गति वाले अहङ्कार, गिद्ध पक्षी की गति वाले लोभ जैसे भीतरी राक्षसों को पत्थर से चूर्ण कर देने की भांति चूर्ण कर दे।

जैसे बाहिरी शत्रु होते हैं ऐसे ही मानव के अन्दर वर्तमान भीतरी शत्रु भी हुआ करते हैं। बाहिरी शत्रुओं का आक्रमण तो कभी कभी हुआ करता है और उनसे कभी हानि होती है तो कभी नहीं भी होती है। परन्तु भीतरी शत्रुओं का आक्रमण तो निरन्तर बना रहता ही है और मानव का सर्वनाश तथा मानवता एवं मानवीय सुख शान्ति का ह्रास करते रहते हैं। वे भीतरी शत्रु हैं दुर्वृत्तियुक्त प्रसिद्ध पशु पक्षियों जैसी मानव की अपनी प्रवृत्तियां अथवा उन पशु पक्षियों के समान मानव के अन्दर वर्तमान घातक रूप में निवास करने वाले "काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, द्वेष" ये मानव के अन्दर जो उल्लू, भेडिया, कुत्ता, चिडा, बाज, गिद्ध के रूप में बैठे हुए हैं जो निरन्तर मानव को अपनी ओर खींच कर उस पर प्रबल प्रहार करते हैं उसे भारी हानि पहुँचाते हैं। उल्लू की दुर्वृत्ति है अन्धकारप्रियता जो कि मानव के अन्दर मूढता या मोहरूप में है। भेडिये की दुर्वृत्ति है क्रूरता जो कि मानव के अन्दर है क्रोध के रूप में। कुत्ते की दुर्वृत्ति है पारस्परिक ईर्ष्या

जो कि मानव के अन्दर है द्वेष। चिडे की दुर्वृत्ति है कामातुरता जो कि मानव के अन्दर है काम या कामभाव। बाज पक्षी की दुर्वृत्ति है अभिमान—गर्व जो कि मनुष्य के अन्दर है मद। गिद्ध की दुर्वृत्ति है मुर्दे तक पर गिरने उसे खा जाने की गर्धा जो कि मानव के अन्दर है लोभ। इन उल्लू आदि प्राणियों की वृत्तियों अथवा इन उल्लू आदि जैसे मोह आदि को अपने जीवन में स्थान न देना चाहिए अपितु इनका पग भी न पड सके ऐसा यत्न करते रहना चाहिए इन्हें योगाभ्यासरूप प्रहारक साधन से मसल देना चाहिए, ये मानव के अन्तर्जीवन को खा जाते हैं साथ ही उन उन प्राणियों की प्रवृत्तिवाला मनुष्य को बना कर जहां तहां अनादर कराते हैं।

निज दोषों का निरीक्षण—

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
बृहस्पतिर्मे तद्धातु शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

(यजु० ३६।२)

मेरे नेत्र हृदय या मन का जो छिद्र अत्यन्त खुल गया मेरे लिए-मुझ पर कृपा करके बृहस्पति परमात्मा बन्द कर दे, जो विश्व का स्वामी है वह इस प्रकार हमारे लिए कल्याणकारी हो।

मानव के अन्दर निज दोष निरीक्षण की भावना होनी चाहिए कि कहीं मेरे नेत्ररूप पात्र में कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हुआ जिसके अन्दर से सद्दृष्टि समदृष्टि मित्रदृष्टि रूप सुधा तो बह बह कर नष्ट नहीं हो रही है और उसमें कोई बाहिर से असद् दृष्टि

पक्षपात दृष्टि वैरदृष्टि रूप कीट पतङ्ग चींटी चींटे तो नहीं घुस रहे हैं। देखना चाहिये मेरे हृदयरूप पात्र में ऐसा छिद्र तो नहीं हो गया जिसके द्वारा अन्दर से शिष्टता सदाचार उदारता दया स्नेह रूप सोमरस तो फिर फिर कर नष्ट नहीं हो रहा है और बाहिर से अशिष्टता दुराचार कठोरता निर्दयता शुष्कता रूप तन्तुकीट (मकड़ियां) तो घुस कर जाल नहीं बिछा रहे हैं। देखना चाहिए मेरे मनोरूप पात्रमें कोई ऐसा छिद्र तो नहीं हुआ जिसके अन्दरसे एकाग्रता संयम हितचिन्तनरूप अमृत तो टपक टपक कर नहीं बह रहा है और बाहिर से चञ्चलता असंयम अहितचिन्तन रूप मूषक जैसे क्षुद्र जन्तु तो घुस कर डेरा नहीं डाल रहे हैं? नेत्र हृदय और मन प्रधान अङ्ग हैं इनमें छिद्र हो गया तो सभी में छिद्र हो जावेंगे और इनमें छिद्र नहीं तो कहीं भी छिद्र नहीं हो सकते। यदि मानव अपने छिद्रों को देख कर बन्द करने का अभ्यासी बन जावे तो मानवता का स्तर ऊंचा उठ जावे। परमात्मा उस पर कृपा कर उसे सुख शान्ति से भर देता है जो अपने छिद्रों को बन्द करने की भावना रखता है और बन्द करने में यत्नशील रहता है।

स्तेय कर्म (चोरी करने) का निषेध—

प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा नक्तं वा यदि वा दिवा।
यत् परद्रव्यहरणं स्तेयं तत्प्रकीर्तितम्॥

सामने या पीछे रात्रि में या दिन में जो दूसरे की किसी भी वस्तु का हरण करना—विना अनुमति के ले लेना है वह स्तेय—चोरी करना और लूटना है।

जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं उसको अधिकर्ता की अनुमति के विना ले लेना अनधिकार चेष्टा करना चोरी है लूट है। यह ऐसे ली हुई वस्तु धन हो पशु हो वस्त्र हो पुस्तक हो कुछ भी हो, विना अनुमति के लेना या बरतना भी चोरी है। अपितु दूसरे के धन आदि में लिप्सा—लेने की इच्छा रखना भी चोरी कहा है। योगदर्शन के भाष्य में महर्षि व्यास ने "पुनः स्पृहारूपं वा"। चोरी का अन्न न खाना चाहिये, वेद में कहा है "न स्तेयमद्मि" (अथर्व० १४। १। ५७) मैं चोरी का अन्न न खाऊं। वस्तु को स्वामी की ओर से दी हुई वस्तु के बदले में लेना या दान रूप में लेना चोरी नहीं। पर वह दान लेना भी चोरी है जब कि दान लेने वाला निठल्ला ले रहा है न वह विद्याप्रचार कर रहा है और न धर्मानुष्ठानपरायण हो धर्मोपदेश करता है वे ऐसे जन दान लेने वाले भी चोर कहे गये हैं।

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरभक्तप्रदो हि सः॥

(वसिष्ठ धर्म सू० १। ३। ४)

धमकर्महीन तथा अनपढे जन भिक्षाचारी जिस ग्राम हों उस ग्राम को राजा दण्ड दे क्योंकि वह चोरों को भोजन देने वाला है।

किसी से ऋण लेकर उसके जीवन काल में और अपने जीवन

काल में न देने की भावना रखना भी चोरी ही है।❀

सद्गुणाधान—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥
(ऋ० ७ । १०४ । १२)

यथार्थ ज्ञान को जान चुकने वाले जन के सम्मुख सत्य वचन और असत्य वचन दोनों परस्पर स्पर्द्धा करते हैं एक दूसरे के विरुद्ध पड़ते हैं। यह तो विद्वान् का लक्षण है कि उसके सम्मुख सत्य और असत्य का स्वरूप विरोधी रूप में आ जाता है वह पृथक् पृथक् दोनों में विवेक कर लेता है। परन्तु उन दोनों में जो सरलतर है वह सत्य है, यह सत्य का लक्षण है उस सरलतर सत्य की सोम—सौम्य स्वभाव वाला जन रक्षा करता है अपनाता है उसका मण्डन करता है और असत्य का नाश करता है उसका खण्डन करता है।

पढ़े लिखे जन तो बहुत मिलेंगे परन्तु ऐसे यथार्थज्ञानवान् कम हैं जिनके सामने सत्य और असत्य दोनों पृथक् पृथक् रूप में आ जावें। सत्य और असत्य का पृथक् पृथक् ज्ञान हो जाना तो यथार्थ ज्ञानी या ऊंचे विद्वान् का लक्षण है परन्तु इन ऐसे यथार्थ ज्ञानियों में जो सत्य को अपनाता अपने जीवन में ढालता

❀ इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥
(अथर्व० ६ । ११७ । २)

है उसका प्रचार करता है तथा असत्य का परित्याग और निराकरण करता है—खण्डन करता है वह यथार्थ वेत्ता विद्वान् से भी ऊपर सोम—सोम्यस्वभाव महात्मा महापुरुष है। ऐसे महानुभाव को कोई लोभ लुभाता नहीं कोई डर डराता नहीं कोई पक्षपाश फंसाता नहीं। वह ऐसा जन देव है पूजनीय है।

मानव की आकांक्षा होनी चाहिये—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
(ऋ० १। ८९। ८)

हे यजनीय—सङ्गमनीय देवो—ऊंचे विद्वानो ! हम आपकी श्रेणी में आने के लिये आप जैसे निर्दोष नीरोग जीवन दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिए कानों से भद्र सुनें आँखों से भद्र देखें।

मानव का आत्मा उठना चाहता है देवश्रेणी में जाना और दैव जीवन का लाभ लेना चाहता है, उसका साधन है भद्र सुनना और भद्र देखना। कान और आँख ये दो प्रधान बहिष्करण हैं, मन अन्तःकोष्ठ में इनके द्वारा श्रवण और दर्शन का चित्र खिंच जाया करता है। शरीरभवन में कान वातायन (खिडकी) के समान है और आंख गवाक्ष (झरोखा) के सदृश है। कान वातायन से मन अन्तःकोष्ठ में ध्वनि चित्र खिंच कर वहां पुनः पुनः प्रतिध्वनित होता रहता है भद्र श्रवण का भद्ररूप और अभद्र श्रवण का अभद्र रूप में, भद्र श्रवण कल्याण का साधन बनता है और अभद्र श्रवण अकल्याण का। इसी प्रकार नेत्र गवाक्ष से मन अन्तः-

कोष्ठ में रूप का चित्र खिंच जाता है वहाँ पुनः पुनः प्रतिबिम्वित होता रहता है, भद्रदर्शन का भद्ररूप में और अभद्रदर्शन का अभद्र रूप में। भद्र दर्शन कल्याण का हेतु बनता है अभद्र दर्शन अकल्याण का। भद्र श्रण और भद्र दर्शन ही देवश्रेणी के मानव बनने में साधन है।

यशस्वी जीवन—

यशो मा द्यावापृथिवी यशो म इन्द्राबृहस्पती।
यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्।
यशस्व्यस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्॥
(साम० पू० ६। १३। १०)

पिता और माता* मेरे प्रति यशोरूप—यश के कारण हों शिष्य और गुरु मेरे प्रति यशो रूप—यश के कारण हों, ऐश्वर्य-धन सम्पत्ति का यश मुझे प्राप्त हो, संसार में यश मुझे छोडे. मैं इस सभा का यशस्वी प्रवक्ता बनूं।

मानव को जीवन में यशस्वी वनना चाहिये। माता पिता की सेवा आज्ञा पालन के द्वारा यश पाना, अच्छे योग्य शिष्य बना कर यशोभागी बनना और आदर्श आचार्य की शरण में रह कर विद्या प्राप्त करके तथा परम श्रद्धा से उनकी सेवा शुश्रूषा करके तथा उनके आदेश का पालन कर यश पाना। धन सम्पत्ति का सदुपयोग सत्पात्र दान कर यश कमाना। सभा सम्मेलनों में कथा-

* "द्यौ में पिता''''''माता पृथिवी महीयम्।"
(ऋ० १। १६४। ३३)

प्रवचनों के द्वारा यथार्थ मार्ग प्रदर्शन कर यशस्वी वक्ता बनना। एवं सम्बन्धियों के सहयोग में, गुरु शिष्यों के संयोग में, विद्या के दानादान उपयोग में, धन सम्पत्ति के दान सत्प्रयोग में, सभा सम्मेलन के योग में यश पाने की भावना रहनी चाहिए, यशस्वी जीवन ही सार्थक सफल और उन्नतपथ की ओर ले जाने वाला है।

तथा—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि
विक्रमः। यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृति-
सिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

(नीतिशतक ८३)

विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य सुख सम्पत्ति में सहनसामर्थ्य अर्थात् फूलना नहीं उद्दण्ड न होना, सभा में उचित बोलना, युद्ध में वीरता, यश बढाने वाले कार्य में रुचि रखना, वेद विद्या के पढने में संलग्नता। ये महापुरुषों के स्वाभाविक लक्षण हैं।

और भी—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

विद्या के व्यसन में जिनका मन हो, सुन्दर शील और शिक्षा सभ्यता को जिन्होंने धारण किया हुआ हो, सत्य को मानने बोलने

आचरण में लाने का व्रत रखने वाले, मान-गर्व त्यागने योग्य दोषों से रहित हों, संसार के दुःख को दलन करने से सुभूषित जो हैं वे शास्त्र विधानानुसार कर्म और परोपकार करने वाले जन धन्य हैं-धन्यवाद के योग्य और मान्य हैं ऊंचे हैं।

इस प्रकार विविध सद्गुणों सदाचरणों से मानव स्वयं अपने को ऊपर उठाता है, अपने सदाचरणों से साथियों में मूर्धा हो जाऊं मान पाने योग्य बन जाऊं यह आकांक्षा रखने का आदेश वेद में दिया है "मूर्धा समानानां भूयासम्" (अथर्व० १६। ३। १) मानव सद्गुणों सदाचरणों से युक्त होकर अपने आत्मा को अपना बन्धु बनाता है और दुर्गुणों दुराचरणों में अपने को डाल कर अपने आत्मा को अपना शत्रु बनाता है, कहा भी है "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः" (महाभार० अनु० अ० ६। २७) अपना आत्मा ही अपना बन्धु है और अपना आत्मा ही अपना शत्रु है।



भ्रातृस्नेह

दशरथ के देहान्त और राम के वनवास वृत्तान्त को गुप्त रख कर भरत को नाना के वर से राम के वनवासानन्तर राज्यशासनार्थ बुलाया गया। भरत के अयोध्या पहुंच जाने पर समस्त वृत्तान्त सुनाकर राजसिंहासन पर शासनार्थ विराजमान होने को मन्त्रियों ने प्रार्थना की तो भरत यह सुनकर राजसिंहासन पर नहीं बैठते किन्तु विलाप करते हैं:—

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्॥

(वा० रा० अयो० ।७२। २७)

मेरे पिता राजा दशरथ राम का राजाभिषेक करने के हेत राजसूय यज्ञ करेगा यह संकल्प मन में कर प्रसन्न हो में चला था। हाय! यह क्या हुआ?

भरत इस प्रकार न केवल विलाप ही करने लगे अपितु राज-सिंहासन पर न बैठकर राम की खोज में वन वन मारे मारे फिरे

और चित्रकूट में उन्हें पाकर अनेक विनयानुनय लौटने को किये पर राम के न लौटने पर राम की पादुकाएं लेकर राजसिंहासन पर प्रतिनिधि के रूप में रख स्वयं १४ वर्ष वानप्रस्थ वेश धारण कर नन्दीग्राम नामक आश्रम में वनियों का जीवन बिताया। यह भ्रातृस्नेह का आदर्श उपस्थित किया —

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।
चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन।
तवागमनमाकांक्षन् वसन् वै नगराद् बहिः॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परन्तप।
चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षे ऽहनि रघूत्तम॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥
(वा० रा० अयो० ११२।२३-२५

भरत ने राम की चरण पादुकाएं लेकर कहा कि हे राम! चौदह वर्ष तक जटावल्कल धारी वानप्रस्थ बन कर फल मूल खाता हुआ आप के आगमन की आकांक्षा रखता हुआ नगर से बाहिर वसता हुआ रहूंगा; चौदहवें वर्ष के पूर्ण होने के दिन यदि मैं आप को न देख सका तो अग्नि में जल जाऊंगा।

यह तो राम के प्रति भरत के स्नेह की बात थी। भरत के प्रति राम का स्नेह भी देखें जो वनवास को जाते हुए अयोध्यावासियों को कहा—

या प्रीतिर्बहु मानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥
(वा० रा० अयो० ४३।७

अयोध्यानिवासी जनो ! आप लोगों की मेरे प्रति जब प्रीति स्नेह और बहुत मान है उसे मुझे प्रसन्न करने के लिये भरत में करें ।

लक्ष्मण का स्नेह भी तो राम के प्रति प्रशंसनीय है जब कि कबन्ध राक्षस राम और लक्ष्मण दोनों को पकड कर कहने लगा मैं एक का वध अवश्य करूंगा; तो लक्ष्मण ने राम को कहा —

मां हि भूतबलिं दत्त्वा पालयस्व यथासुखम् ।
अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ॥
प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ।
तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमसि सर्वदा ॥

अयि राम ! इस कबन्ध राक्षस के लिए मुझे बलि देकर सीता को शीघ्र प्राप्त कर ले पुनः अपने बाप दादा की राष्ट्रभूमि को प्राप्त कर राज्य में स्थित हुआ मेरा स्मरण कर लिया करना कि लक्ष्मण भी मेरा एक भ्राता था ।

वेद में कहा है:—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
(अथर्व० ३।३०।३)

भाई से भाई द्वेष न करे और बहन से बहन द्वेष न करे ।

[९]

समानाधिकार

धर्म और वेदविद्या ईश्वरीय देन है, उस में मनुष्यमात्र का समान अधिकार है। जैसे ही ईश्वर की देन अन्न जल वायु प्रकाश आदि पदार्थों में सब का समान अधिकार है जितना जिसको आवश्यक है विना प्रतिबन्ध के लेता है, ऐसे ही धर्म के धारण और वेद-विद्या के अध्ययन करने का अधिकार भी सब को समान है इस में प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार अन्य सुख दुःख व्यवहार के सम्बन्ध में भी अपने जैसा व्यवहार दूसरों के प्रति करना चाहिए इस में मानवता है भेदभाव में नहीं है, खानपान का भेद करना भी मानवता से परे है। अब उक्त बातों के सम्बन्ध में शास्त्रों के विचार देखें।

अपने जैसा अन्यों से व्यवहार—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः।

(चाणक्यनीति श्लोक ३, हितोपदेशमित्रलाभ १४)

सब प्राणियों में अपने जैसी दृष्टि रखना अर्थात् जैसे भोजन आदि पदार्थ से मुझे सुख होता है वैसे अन्य को भी होता है उसे उस से वञ्चित नहीं करना और जैसे कांटे आदि के चुभने से या शस्त्र के लगने से मुझे दु:ख होता है वैसे उस शस्त्र आदि से अन्य प्राणी को भी अवश्य दु:ख होगा ही अत: उसके भी अङ्ग पर उस शस्त्र से प्रहार न करना।

तथा —

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जो बातें अपने प्रतिकूल हैं उन्हें अन्यों के प्रति न सेवन करना चाहिए।

सब समान भाई हैं—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय॥ (ऋ० ५। ६०। ५)

सौभग-सौभाग्य-कल्याण साधने के लिये मानव परस्पर अज्येष्ठ और अकनिष्ठ हैं अर्थात् कोई बडा और छोटा नहीं की भावना रखते हुए भाई भाई बनकर दिन प्रतिदिन बढा करते हैं उन्नत होते हैं।

खान पान समान—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः। (अथर्व० ३।३०।६)

तुम्हारा जल पीने का स्थान—प्याऊ समान हो और अन्न-भोजन का भाग-परसने का स्थान अर्थात् भोजनालय खाने का स्थान एक हो।

यज्ञ में सभी वर्णों को (शूद्रों को भी) प्रविष्ट होने का अधिकार—

ब्रह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सर्वशः ।
समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ॥

(वाल्मी० रामा० बाल० १३।२०)

दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में वसिष्ठ ने सुमन्त को आदेश दिया कि इस यज्ञ में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को भी सत्कार से लाओ।

यहां यज्ञमण्डप जैसे पवित्र धर्मस्थान में शूद्र को भी सत्कार से बुलाना बिठाना कहा है।

समस्त वर्णों का वेदाध्ययन में अधिकार—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

(यजु २६।२)

जैसे मैं ईश्वर इस कल्याणी वेदवाणी का मनुष्यमात्र के लिये उपदेश देता हूं वैसे आप लोग भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, जाङ्गलिक जन और भृत्य के लिये भी इसका उपदेश दो।

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ॥

(महाभार० शान्ति० मोक्ष० अ० ३२७।४८)

चारों वर्णों को वेद का अध्ययन सुनावे यह कार्य महत्त्वपूर्ण

है। ब्राह्मण को आगे बिठावे यह बिठाने में शिष्टाचार है।

ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत्।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तिमभिपूजयेत्॥
(महाभार० अनुशा० अ० ४८।४८)

शील से विहीन ब्राह्मण का भी सत्कार न करे अपितु धर्मज्ञ सद्व्यवहारयुक्त शूद्र की भी पूजा करे।

शूद्रों में से अनेक जन वेद पढकर ऋषिपदवी को प्राप्त हुए, ऐतरेय महीदास ने ऋग्वेद पर ऐतरेय ब्राह्मण लिखा, ताण्ड्य ने सामवेद पर ताण्ड्य महाब्राह्मण रचा, कवष ऐलूष तो ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का द्रष्टा ऋषि हुआ।

स्त्रियों का भी धर्म तथा वेदाध्ययन में समानाधिकार—

सन्ध्यायमाना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यायै वरवर्णिनी॥
(वाल्मी० रा० सुन्दर० १५।४८)

हनुमान् जङ्गल में सीता की खोज करते हुए विचारते हैं कि सन्ध्याशील सीता सन्ध्या करने के हेतु इस शुभ जलवाली नदी पर आयगी मैं यहां ठहरूं।

सीता सन्ध्या करती थी। इससे स्त्रियों को भी धर्मकृत्य करने का अधिकार है यह स्पष्ट है।

तथा—

अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला॥
(वाल्मी० रा० अयो०)

कौशल्या मन्त्र पढ़कर हवन करती थी।

इस से स्त्रियों को मन्त्र पढने—वेद पढने तथा अग्निहोत्र करने का भी अधिकार था।

समानं ब्रह्मचर्यम् (श्रोत सूत्र० पटल १५)

बालक और कन्याओं का ब्रह्मचर्य समान है।

अनेक स्त्रियां वेदकी ऋषिकाएं हैं जैसे—

गार्गी वाचक्नवी वडवा प्रातिथेयी सुलभा मैत्रेयी।

(आश्वलायन गृह्यसू० ३।४)

वचक्नु की पुत्री गार्गी प्रतिभा की पुत्री वडवा, सुलभा मैत्रेयी ऋषिकाएं हुईं।

अरुन्धती महती विदुषी हुई जिसने वैदिक धर्म का प्रचार किया—

तपोवृद्धिर्मया प्राप्ता भवतां स्मरणेन वै।
भवतां च प्रसादेन धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥

(महाभा० अनु० १३०।३)

अरुन्धती ऋषियों को कहती है कि मैं ने तपोवृद्धि आप महानुभावों के स्मरण से प्राप्त की है एवं आप जनों के प्रसाद से शाश्वत धर्मों का उपदेश करूंगी।

वेदमें स्त्री को ब्रह्मा होने का कथन है—

स्त्री ब्रह्मा बभूविथ। (ऋ० ८।३३।१९)

स्त्रियों को संन्यास का अधिकार—

शङ्करा नाम परिव्राजिका आसीत् ।

(महाभाष्यव्याकरण । ३ । २ । १४)

शङ्करा नाम की संन्यासिनी हुई ।

तथा —

महाभारत में आता है कि सुलभा संन्यासिनी ने जनक विदेह को मोक्षमार्ग का उपदेश दिया—

अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता ।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥

(महाभार० शान्ति० मोक्ष० अ० ३२० ।५-७)

उस धर्मयुग में योगविद्या में निष्णाता एक सुलभा संन्यासिनी पृथिवी पर विचरण कर रही थी ।

इस स्थल पर नीलकण्ठ टीकाकार ने भी लिखा है कि "भिक्षुकीत्यनेन स्त्रीणामपि प्राग्विवाहाद् वैधव्यादूर्ध्वं वा संन्यासेऽधिकारोऽस्तीति दर्शितम्" (नीलकण्ठः) 'भिक्षुकी' शब्द से स्त्रियों का भी विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य से ही या विधवा होजाने के पश्चात् संन्यास ग्रहण करने में अधिकार है ।



लोक समाज राष्ट्र विश्व के प्रति व्यवहार

मानव को वैयक्तिक आचरण के अतिरिक्त लोक-जनसाधारण, समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ भी व्यवहार काना पडता है तथा उनके प्रति यथोचित व्यवहार करना मानवीय कर्तव्य भी है, वे ऐसे व्यवहार संक्षेप से यहां क्रमशः दर्शाते हैं।

लोकव्यवहार—

परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं निगच्छति॥

(महाभार० शान्ति० मोक्ष० २९० । २४)

किसी भी बात को दोष मानकर दूसरों की जिस विषय में निन्दक निन्दा करे और वह उस निन्दनीय विषय से स्वयं युक्त हो उसके अन्दर वह निन्दनीय दोष हो तो वह ऐसा निन्दक जन उपहास एवं अनादर को प्राप्त होता है।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात् स नृशंसतरो जनः ॥
(महाभार० अनुशा० अ० ११६ । १२)

जो मनुष्य अपने मांस को दूसरे के मांस से बढाना चाहता है उस से अधिक क्षुद्र-निकृष्ट नहीं हो सकता क्योंकि वह अत्यन्त नृशंस-हत्यारा है ।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥
(अथर्व० १ । ३४ । ३)

मेरा निकट गमन-पास पडोस में जाना-आना रहना-सहना मिठास वाला हो मेरा दूर गमन-दूर जाना-आना रहना-सहना मीठास वाला हो, वाणी से मिठासयुक्त वचन बोलूं मैं मधु का चित्र बन जाऊं ।

मानव के जीवन में मिठास हो तो उस का लोक जहां उस के लिये मीठे फल देगा साथ ही वह अन्यों को भी मीठे फल का भागी बनावेगा । उस का मिलन मिठा हो तो विदा होना भी मीठा होगा, अपने मीठेपन से दूसरे आकर्षित होंगे शत्रु मित्र बन जायेंगे अपने को सब में मान का प्रेम का पात्र बनाता है अन्यों में प्रेम और आनन्द के सोते बहाता है ।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहते वाक्क्षतम् ॥

कर्णिनालीनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति
रात्र्यहनि । परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो
नावसृजेत् परेभ्यः ॥ (महा भा० उद्यो० अ० ३४।७८-८०)

बाणों से बिन्धा जंगल और कुठारो से कटा वृक्ष फिर भर आता है उग आता है किन्तु वाणी से दुरुक्त बुरा घाव नहीं भरता है। कर्णिनाली नाराच अस्त्र तो शरीर से निकाले जा सकते हैं परन्तु वाणी का बाण या काण्टा नहीं निकाला जा सकता क्योंकि वह हृदय में घुस जाने वाला होता है। वाणी के बाण मुख से निकलते हैं जिन से आहत जन रात दिन शोच करता है क्योंकि वे दूसरे के अमर्म स्थलों में नहीं किन्तु मर्मस्थलों में गिरते हैं अतः बुद्धिमान् को वाणी के बाण नहीं छोडने चाहिएं।

शस्त्र का घाव तो कभी न कभी जाता है भरा।
पर वाणी का घाव सदा रहता है हरा ॥
कागा काको धन हरे कोयल का को देय।
मीठी वाणी बोल कर जग अपनो कर लेय ॥

सब को मित्र दृष्टि से देखना—

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
(यजु० ३३। १८)

मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूं।

मित्र की दृष्टि स्नेह की दृष्टि है, अंहिसा की दृष्टि से भी ऊंची दृष्टि है। अंहिसा का अभिप्राय तो हिंसा-पीडा का अभाव है परन्तु मित्रता का अभिप्राय है हिंसा का अभाव होते हुए-हिंसा का अभाव हो जाने पर स्नेह का भाव लाना। एक औषध है रोग दूर करता है दूसरा औषध है रोग दूर करके शरीर में जीवनीय शक्ति स्फूर्ति कान्ति को ले आता है वह औषध महौषध है रसायन है ऐसे ही मित्रदृष्टि महौषध रसायनरूप है। मित्रदृष्टि को मनुष्य ही क्या पशु तक पहचानता है हिंसक पशु तक पहचानता है इस के परीक्षण हमने अनेक वार हिंसक प्राणियों पर चिडयाघरों के सिंहो पर करे उन की पीठ कान मुख पर हाथ फेरे हैं।

नागरिक कल्याणचिन्तना—

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो
जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो
अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥ (अथर्व० १।३१।४)

हमारे माता पिता के लिये कल्याण हो, मनुष्य मात्र के लिये कल्याण हो। गौओं के लिये कल्याण हो, जङ्गम प्राणीमात्र के लिये कल्याण हो। अपितु संसार हमारा सुखसम्पन्न परिवार बन जावे, हम सब चिरकाल तक जीवें।

अच्छे नागरिक का कर्तव्य है प्रथम अपने माता पिता का कल्याण साधना, पुनः मनुष्यमात्र का कल्याण चाहना। एवं गौ आदि घरेलु पशुओं का कल्याण करना पश्चात् प्राणीमात्र का

हित चाहना। पांचवे समस्त संसार को परिवार के रूप में देख मङ्गलकामना करना। इस पञ्च कल्याणचिन्तना से सच्चा नागरिक बनता है नितान्त निश्चिन्त और निर्भय होकर दीर्घ जीवन को प्राप्त करता है। किसी भी प्राणी को दुःख पहुंचाना या उस का मांस उतारना वस्तुतः नागरिक धर्म के विपरीत है। जीवन भर सेवा करने वाले प्राणी के भी घात करने में आज मनुष्य संकोच नहीं करता अपितु माता पिता तक के भी प्राण ले लेता है। इस प्रकार आज के मनुष्य ने नागरिक जीवन को क्षुब्ध एवं अशान्त बना रक्खा है। कहां यह अभद्र व्यवहार और कहां वेद का उपर्युक्त विश्वप्रेम ?

दुःख में सहानुभूति सान्त्वना का प्रकार—

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम्॥

(महाभा० आदि० सम्भव अ० १४० । ७४)

जिस मनुष्य की बुद्धि दब गई या मर गई उसे किसी आघात या दुःख के अवसर पर उस के अतीत–पिछले अच्छे कौशल–उत्कृष्ट कर्म यश फल आदि सुना कर सान्त्वना दे, विपरीत बुद्धिवाले को भविष्य–सिद्धि की आशा बतला कर सान्त्वना दे, पण्डित अर्थात् पण्डायुक्त बुद्धिमान् को वर्तमान के धन सम्बन्धी यश आदि का दृश्य दिखला कर सान्त्वना देनी चाहिये।

ऋण के सम्बन्ध में कर्तव्य—

इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत् ।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥

(अथर्व० ३ । ११७ । २)

हम जीते हुए इस ऋण को इसी शरीर में लौटावें चुकावें और जीते हुओं को चुकावें-जिन से ऋण लिया उनके जीवन काल में चुकावें। जिस अन्न को बदला चुकाना लौटाना है ऐसा ऋणरूप से खाया है उस से परमात्मन् ! मैं अनृण हो जाऊं।

किसी से ऋण लेना बुरा नहीं है परन्तु ऋण लेकर चुकाना चाहिये। अनेकों की धारणा तो ऋण लेते समय ही होती है कि "यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥" संसार में जब तक जीना सुख से जीना ऋण लेकर घी पीना क्योंकि भस्म हुए शरीर का आना नहीं-भोग लो जितना भोग सको इस शरीर से, फिर इस शरीर को आना नहीं शरीर के साथ ही भोग है या इस शरीर को फिर आना नहीं जो मरने के पश्चात् कोई ऋण ले सके अथवा शरीर भस्म हो जावेगा शरीर में आत्मा माना नहीं पुण्य पाप के फल को कौन भोगे ? सो ऐसा विचार अयुक्त है शरीर में अनश्वर आत्मा है शुभाशुभ कर्मों का कर्ता वही है अतः इस शरीर के छूट जाने पर कर्मफल भोगे गा अन्य शरीर में और फिर समाज व्यवस्था के भङ्ग का अपराध लगता है अतः ऋण का चुकाना ही उचित है। ऋण लेने वाला अपने जीवन काल में ऋण चुकावे अपने जीवन काल

में न चुकाया पीछे पुत्र-पौत्रों ने चुकाया तो लोकाचार है स्वयं न चुका कर अपराधी तो बन गया। जिन से ऋण लिया उन के जीवन काल में चुकाना उन के जीवन काल में न चुकाया पीछे उन के पुत्र पौत्रों के प्रति चुकाना पडा तो लोकाचार है यथार्थ आचार नहीं।

समाज व्यवहार—

व्यक्ति का जीवन अपने तक या परिवार तक ही सीमित नहीं है किन्तु अन्यों के प्रति भी उसका पारस्परिक कर्त्तव्य है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अन्यों का भी ऋणी है।

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः॥

(महाभा० आदि० सम्भव १२। १८)

पृथिवी पर मनुष्य चार ऋणों से युक्त होता है। वे चार ऋण हैं पितृ-ऋण—माता पिता आदि पारिवारिक जनों के पालन का, देव-ऋण—वायु आदि के सेवन से मल मूत्र द्वारा दुर्गन्धित कर देने का, ऋषि-ऋण—विद्वानों से अध्ययन सुशिक्षा ग्रहण पुरातन महानुभावों के ग्रन्थों से शिक्षालाभ लेने का, मनुष्य-ऋण—भिन्न भिन्न मनुष्यों के प्रयत्नों से प्राप्त अन्न भोजन वस्त्र आदि और अन्य सहयोग का।

यहां विशेषतः अभीष्ट वक्तव्य है कि माता पिता आदि हों या विद्वान् हों या अन्य मनुष्य हो हम उन सब के ऋणी हैं हमारा कर्त्तव्य उनका जिस भी सेवा सहायता से सहयोग कर सकें करें॥

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥

(ऋ० १० । १९१ । २)

हे मनुष्यो ! तुम मिलो--समाज के रूप को धारण करो। क्यों मिलें क्यों समाज के रूप को धारण करें इसलिए जिससे कि तुम संवाद कर सको, क्योंकि विना मिल बैठे संवाद नहीं होता है अतः मिलो फिर संवाद करो। क्यों संवाद करें ? इसलिए जिससे कि तुम्हारे मन एक हो जावें—मिल जावें, विना संवाद के मन एक नहीं होता अतः संवाद करो, संवाद करने से ही मन एक होता है। क्यों मन एक करें ? जिससे कि तुम पूर्व देवों-परम विद्वानों की भांति अपने भाग—भजनीय अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सको क्योंकि विना मन एक किए सामाजिक सुखलाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

समाज का निर्माण विना भेदभाव के होना चाहिए। वर्ण समाज और दल के दल-दल में मनुष्य फंस कर समाज का अहित करता है। जहां मनुष्यों में मिल बैठने की प्रवृत्ति न हो या मिल बैठने पर भी संवाद न हो विवाद हो, पुनः संवाद हो जाने पर भी मन एक न हो—मतैक्य न हो तो समाज लक्ष्य से च्युत हो जाता है। धर्म नाम से वर्ग भेद—सम्प्रदाय, राजनैतिक दल भेद—राजनैतिक पार्टियां, राष्ट्रों के पृथक् पृथक् पक्ष सभी विश्व के मानव समाज का अकल्याण और विनाश करने वाले हैं। मानवमात्र एक समाज के सदस्य हैं यह यहां वेद का लक्ष्य है।

सभा समाज के गुण दोष—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः,
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥

(वाल्मी० रामा० उत्त० ५६ । ३४)

वह सभा; सभा नहीं जहां वृद्धजन न हों। वे वृद्ध—बडे, बडे नहीं जो धर्म नहीं कहते, वह धर्म, धर्म नहीं जिसमें सत्य नहीं। वह सत्य, सत्य नहीं जो छल से युक्त हो।

वृद्ध जन, धर्म, सत्य, निष्कपटता-निष्पक्षता ये बातें सभा समाज में हों तो सभा समाज स्थिर रहते हैं और मानव हित को साधते हैं, अन्यथा नहीं।

स्वराष्ट्र के प्रति—

जिस देश में उत्पन्न हुए रहते हैं जिसके अन्न से शरीर पला और पलता है उसकी सब प्रकार से रक्षा करना उसे उन्नत करना प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है। (स्वामी दयानन्द सरस्वती)

सुरापान राष्ट्रीय अपराध—

यश्च नो विदितं कुर्यात् पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥

(महा० मौसलप० अ० १ । ३०)

श्री कृष्ण जी ने सुरापान को बन्द करने के लिए अपने राष्ट्र में यह घोषणा कर दी थी कि जो कोई भी मनुष्य सुरापान करता हुआ जान लिया गया तो वह मनुष्य जीता हुआ बान्धवों के सहित शूली पर चढ़ेगा।

वेद में तो राजा को भी सुरापान का निषेध है वहां राजा को 'सोमपाः'❀ सोम का पान करने वाला कहा गया है सुरापा नहीं। सोम ओषधि विशेष है और सामान्य रूप से ओषधिमात्र को सोम कहते हैं, ओषधि का पञ्चाङ्ग या विशेष विशेष उपयोगी अङ्ग मूल काण्ड पत्ते फूल फल का ताजा रस निकाल कर सुगन्ध मधु आदि मिला कर पीना सोमपान है उन्हें ही ताजा न लेकर सड़ा कर मादक रूप देकर तैयार करना सुरा है।

अन्य राष्ट्रविघातक कार्य (जो रामराज्य में न थे)--

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥

(वाल्मी० रामा० युद्ध० १२८। ९८-१०१)

❀ "स्वस्तिदा विशां पतिः सोमपाः ॥" (ऋ० १०। १५। २)

राम के प्रशासन में विधवाएं न होती थीं—बालविवाह और वृद्धविवाह न होने से, हिंस्र प्राणी का भी भय न था, रोग का भी भय न था—रोगी अधिक नहीं पडते थे, प्रजाजन डाकुओं से रहित थे, कोई किसी के प्रति अनर्थाचरण नहीं करता था, वृद्धों के सम्मुख बालकों का मरण नहीं होता था, सब प्रसन्न थे, सब धर्मपरायण थे, परस्पर हिंसा नहीं करते थे, अनेक पुत्र पौत्रों से युक्त वंश सहस्रों वर्षों तक चलते थे--वंशच्छेदन नहीं होता था, प्रजाजन रोग और शोक से अलग थे।

राष्ट्र में विधवाओं की वृद्धि एक अभिशाप है, बालविवाह और वृद्धविवाह राष्ट्रीय अपराध है, पुनः पुनः प्रजाजनों का रोगी पढना भी राष्ट्र-व्यवस्था का दोष है, चोरी करना डाका लाना परस्पर पीडा पहुंचाना भी राज व्यवस्था की निर्बलता है।

विश्व के समस्त राष्ट्रों में पारस्परिक शान्ति का उपाय--

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ॥ (अथर्व० ३।४।२६)

ओ राजसूय के अधिकारी—राज्यशासन के योग्य महाभाग महानुभाव ! तुझे राज्य के लिए प्रजाजन वरें—वरते हैं-निर्वाचित करते हैं—चुनते हैं। तथा ये पांच प्रदिशाएं—चारों सीमावर्ती राष्ट्र तथा पांचवां अपना राष्ट्र भी वरते हैं—सब मिल कर निर्वाचित करते हैं चुनते हैं।

किसी भी शासक राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री का निर्वाचन किसी भी राष्ट्र में या प्रत्येक राष्ट्र में प्रथम अपने राष्ट्र की जनता

द्वारा हो, वह वोट सुरक्षित रहे। पुनः चारों सीमावर्ती राष्ट्रों को या उनके राजदूतों और अपने राष्ट्र या अपने राजदूत को भी साथ ले दूसरा निर्वाचन करे। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के अपने दो वोट होंगे एक प्रथम अपनी प्रजाद्वारा वह अपनी प्रजा की शान्ति के लिए दूसरा वोट चारों सीमावर्ती राष्ट्रों का अपने राष्ट्र को भी साथ लेकर जो सीमावर्ती राष्ट्रों के सहयोग से परस्पर राष्ट्रों की शान्ति के लिये। यह ऐसा निर्वाचन पञ्चायत राष्ट्र निर्वाचन हुआ। इससे विश्व के समस्त राष्ट्र एक सूत्र में आबद्ध होकर प्रेम और शान्ति से रह सकेंगे क्योंकि वे शासक सभी राष्ट्रों की अनुमति से निर्वाचित हुए हैं।

मानव जन्म पृथिवी भर के कल्याणार्थ विश्वहित साधना—

जन्म केवलमात्मार्थं नास्माकं जगतीतले।

(हितोक्तिः)

हमारा जन्म केवल अपने लिए पृथिवीतल पर नहीं है अर्थात् पृथिवी के समस्त वासियों के हितसाधनार्थ भी है।

वसुधैव कुटुम्बकम्। (सुभाषित रत्नाकरः)

पृथिवी भर—पृथिवी का मानवमात्र हमारा कुटुम्ब है—परिवार है।

परोपकाराय सतां विभूतयः॥

सज्जनों की सम्पत्ति, सत्ता, विद्या आदि परोपकार के लिये होते हैं।

[११]

प्रतिबोध (चेतावनी)

दिन बीते जाते हैं—

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां राज्यहानि पुनः पुनः ॥

(महाभा० शान्ति० मोक्ष० अ० ३३२ । ५)

जैसे नदियों के सोते—प्रवाह बहते हुए चले जाते हैं लौटते नहीं इसी भांति दिन रात भी मानव की आयु को वार वार ले लेकर चले जाते हैं लौटते नहीं ।

मानव सावधान हो ! पिछले गये दिनों में क्या किया और आगे क्या करना है ।

शरीर मृत्यु के मुख में—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥

(यजु० ४० । १५)

बाह्य वायु भीतरी वायु अर्थात् प्राणशक्ति को धारण करता है और वह अमृत—न मरने वाले जीवात्मा को धारण करता है अनन्तर ऐसा संगठन न रहने पर शरीर भस्मान्त है नश्वर है मृत्यु के मुख में जाने वाला है। अतः कर्मशील और प्रज्ञानवान् जीव! तू किये का तथा कर्तव्य का स्मरण कर, अपने सामर्थ्य का स्मरण कर—अपने को समझ, ओ३म् का स्मरण कर।

शरीर मृत्यु के मुख में जाने वाला है यह शस्त्र से कट कर मांस के लोथडों में हड्डियों के टुकडों में हो जाने वाला; अग्नि में जल कर राख बन जाने वाला, विष से विषैला हो नष्ट हो जाने वाला और अन्त में जरा से जीर्ण होकर समाप्त हो जाने वाला है। यह अभिमान की वस्तु नहीं यह तो अनिश्चित काल की गाडी है। इसे ठीक रख कर अच्छी यात्रा कर सावधानता से चला कर लक्ष्य को प्राप्त करलो।

रूप आदि को जरा आदि हरते हैं—

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा,
मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा,
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः॥

(महाभा० उद्योग० प्रजा० अ० ३५।५०)

जरा (बुढापा) रूप सौन्दर्य को हर लेता है, आशा धैर्य को, मृत्यु प्राणों को, निन्दा धर्माचरण–पुण्य को, क्रोध शोभा को, नीच का सङ्ग शील को, कामवेग लज्जा को और अभिमान सब

को ही हर लेता है-नष्ट कर देता है।

नीच सङ्ग से आचार और बुद्धि की हानि—

असतां दर्शनात्संस्पर्शात्सञ्जल्पात् सहासनात् ।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्ध्यन्ति च न मानवाः॥
बुद्धिश्च हीयते पुंसां नीचैः सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठतां याति चोत्तमैः ॥
(महाभा० वनप० आरण्य० अ० १।२९-३०)

नीच जनों के दर्शन संसर्ग और उन के साथ अधिक सम्भाषण तथा बैठने से धर्माचार क्षीण हो जाते हैं तथा मानव अपने कार्यों में सिद्ध-सफल नहीं होते हैं। बुद्धि भी नीचों के समागम से हीन हो जाती है मध्यम जनों के समागम से मध्यम और उत्तम जनों के समागम से उत्तम बुद्धि हो जाती है।

आरोहकों के भेद से संसार भिन्न भिन्न रूप घोड़ा—

हयो भूत्वा देवानवहद् वाजी गन्धर्वानर्वाऽसु-
रानश्वो मनुष्यान्। (बृहदारण्यको० १।१।२)

देवों उच्च महात्माओं को यह संसाररूप घोड़ा 'हय' नाम का ऊंची प्रेरणा देने वाला तथा वैराग्य से स्थिर परमात्मदेव तक ले जाने वाला बन कर सवारी देता है। मनुष्यों-सामान्य जनों को अश्व नाम का निरन्तर मार्गगामी उन्मार्ग न हो कर पुनः पुनः जन्म धारण कराने वाला मानवता की हवा खिलाने वाला बनकर वहन करता है सवारी देता है। गन्धर्वों-विषयविलासी भोगी

जनों को वाजी नाम का भोगों के बाजारों में भटकाने वाला बन कर वहन करता है सवारी देता है। असुरों निजप्राणों में रमण करने वाले अपने जीने के लिये दूसरों का प्राण घात करने वाले जनों का अर्वा नाम का हिंसक घोडा जहाँ तहाँ झाड झंकाडों में फंसाने उलझाने पटकने वाला बन कर वहन करता है सवारी देता है।

शरीररथ में इन्द्रियां घोड़े आत्मा रथवान्—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।

(कठो० ३।४)

शरीर रथ है, आत्मा रथवान्-रथस्वामी रथ में आरूढ-बैठा हुआ, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, बुद्धि सारथि-हांकने वाला, मन लगाम है और विषय मार्ग हैं।

तथा—

रथः शरीरं भूतानां सत्त्वमाहुस्तु सारथिम्।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्म बुद्धिस्तु रश्मयः॥
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते॥

(महाभा० स्त्रीप० अ० ८।१

प्राणियों का शरीर रथ, बुद्धि सारथि, इन्द्रियां घोड़े, कार्यबुद्धि अर्थात् मन लगाम है। जो इन इन्द्रिय घोड़ों के वेग के पीछे

दौडता है वह इस संसार चक्र में च॰ ो भांत घूमता रहता है भटका करता है।

अपि च—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद् विद्वान् यन्तेव वाजिनाम्॥
(मनु० २।८८)

उलटे अयोग्य विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के संयम में रोकने में घोडों के विद्वान् नियन्ता की भांति यत्न करे।

तथा—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(मनु० २.९३)

मानव इन्द्रियों के प्रसंग से उन के पीछे पडने से निःसंशय दोष को प्राप्त होता है। उन्हें वश में करके तो अवश्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

किस से कैसे वर्ताव कर निर्दोष रहे —

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्
(योगदर्शन ' १। ३३)

सुखविषयवालों—सुखीजनों से मित्रता रखो क्योंकि तुम्हारे अन्दर ईर्ष्या न उत्पन्न होकर चित्त प्रसन्न रहे शान्त रहे। दुःखविषयवालों—दुःखी जनों के प्रति दयाभाव रखो इसलिये कि तुम्हारे

अन्दर उनको दबाने सताने तिरस्कृत करने की भावना न उत्पन्न होकर चित्त अविकल रहे—प्रसन्न रहे । पुण्यविषयवालों पुण्यात्माओं महात्माओं को देख प्रसन्न होओ—उनके सम्मुख भी प्रसन्नता प्रदर्शित करो जिससे कि तुम्हारे अन्दर उनके सद्गुणों का आकर्षण होकर चित्त निर्वासन शान्त रहे । अपुण्य विषय वालों—पापात्माओं—क्षुद्रात्माओं को देख उपेक्षा करो उनके प्रति अरुचि रखो क्योंकि तुम्हारे अन्दर उनके दुर्गुण न आकर चित्त निर्दोष स्वच्छ स्थिर रहे ।

काम भोग पूरे नहीं होते—

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः ।
(अथर्व० ९।२।१९)

प्राणियों के अन्दर प्रथम कामभाव—भोगेच्छा उत्पन्न हुई इसे न देव पूरा कर सके न पितर न मनुष्य ।

इच्छाप्रवाह महान् है यह पूरा होने वाला नहीं है इसे देव—ऊंचे विद्वान् विद्यावान्, पितर—रक्षक एवं राष्ट्रसंरक्षक सत्ताधारी और साधारण जन कोई भी पूरा नहीं कर पाता । क्योंकि "समुद्र इव हि कामः । न कामस्यान्तो ऽस्ति न समुद्रस्य" समुद्र की भांति कामभाव है न समुद्र का अन्त है न कामभाव का ।

तथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनु० २।९७)

कमनीय भोगों के उपभोग से कामभाव शान्त नहीं होता है किन्तु वह तो अग्नि में घृत डालते रहने की भांति बढता ही जाता है। जो इस में पडता है उसे यह भस्म ही कर देता है। "भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः" (वैराग्यशतक १३) भोग तो भुक्त अर्थात् समाप्त न हुए भोगते भोगते भोग पूरे न हुए भोगभाव बढते ही चले गए परन्तु भोगों को भोगने में हम समाप्त हो गए—भोगों ने हमें समाप्त कर दिया—मार दिया क्योंकि "भोगे रोगभयम्" भोग में रोग का भय है रोगी होकर समाप्त होजाना ही परिणाम भोगों के पिछे पडने का है। अतः निर्वाह-मात्र भोग भोगने चाहिएं यही मर्यादा भोगों के भोगने की है मर्यादा से बाहिर जाना नहीं चाहिए भोग को मर्यादा से बाहिर सेवन करना जीवन से चिपटा लेना हानिप्रद व्यसन बन जाता है। आजकल बालकों को ऐसे व्यसनों ने घेर रखा है। पान, तम्बाकु, चाय, बर्फ आदि के अतिसेवनरूप व्यसनों से दूर रहना चाहिए।

ऊंचे पद से निकृष्ट कार्य शोभनीय नहीं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ—ऊंचे पद पर विराजमान जो जो आचरण करता है उस उस को अन्य जन भी करता है।

सत्पुरुष और असत्पुरुष का विवेक—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराजसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

(भर्तृहरि नीतिशतक ७५)

जो स्वार्थ को त्याग कर परहित साधन परायण हैं वे सत्पुरुष हैं, स्वार्थ से विरोध न कर परहितसाधने में उद्यम करने वाले सामान्य जन हैं, वे न सत्पुरुष और न असत्पुरुष हैं जो स्वार्थ के लिये परहित नष्ट करते हैं वे राजस-रजोगुणी असत्पुरुष हैं, जो निरर्थक परहित को नष्ट करते हैं वे कौन हैं-किस कोटि में हैं नहीं जानते वे तो अत्यन्त अधम हैं।

हानि लाभ आदि की सूचना—

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः।
का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः॥
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता हि।
धनं विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्॥

(नीतिशतक १०३)

लाभ क्या है? गुणीजनो का मेल समागम, क्या दुःख है? बुद्धिहीनों की सङ्गति, क्या हानि है? समयनाश, क्या निपुणता है? धर्म तत्त्व में रति-रमण करना, कौन शूर है? जितेन्द्रिय, कौन प्रियतमा-अतिप्रिया पत्नी है? अनुकूल आचरण करने वाली

पत्नी, क्या धन है? विद्या, क्या सुख है? विदेश न वसना, कौन अपना राज्य है? आज्ञा पालन जहां हो।

तथा—

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः।
क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम्॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः शमश्चित्तप्रशान्तता।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता॥
क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनन्तकः।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः॥
स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिन्द्रियनिग्रहः।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम्॥

(महाभा० वनप० आरण्य० अ० ३। १३)

तप है अपने धर्म का आचरण, दम है मन का दमन करना, क्षमा है सुख दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन करना, ह्री-लज्जा है अकार्य से निवृत्त हो जाना, ज्ञान है तत्त्वार्थ का बोध, शम है चित्त की प्रशान्त स्थिति, दया है सब के सुख की कामना करना, आर्जव-सरलता है समान चित्त होना, दुर्जय शत्रु है क्रोध, लोभ है सदा बना रहने वाला रोग, साधुपुरुष है जो सब भूतों के हित में रत है, असाधु जन है निर्दय पुरुष, स्थैर्य है अपने धर्म में स्थिर रहना, धैर्य है इन्द्रियों का निग्रह करना, स्नान है मन के मैल का त्याग, दान है प्राणियों की रक्षा करना।



[१२]

धर्माधर्म या शुभाशुभ कर्म

धर्म किसी भी वर्ग के मन्तव्य या मत को नहीं कहते हैं वह तो सम्प्रदाय है पर जो किसी एक ही वर्ग या किसी एक ही देश से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु समस्त मानव समाज तथा समस्त देशों से सम्बन्ध रखता हो जिस से मानव का सर्वतोमुखीन कल्याण सिद्ध हो वह धर्म है अर्थात् उन सिद्ध नियमों को धर्म कहते हैं जिन से मानवमात्र का विना प्रतिबन्ध के कल्याण हो। अतएव "धारणाद् धर्ममित्याहुः" धारण करने से धर्म कहते हैं "यतो धर्मस्ततो जयः" (महाभा० अनुशा० अ० १६७।४१) धर्म से जय-कल्याण है। अतः धर्म नाम कर्तव्य और अधर्म अकर्तव्य को कहते है। धर्म या शुभ कर्म के करने से पूर्व मन में जो सङ्कल्प आता वह शिव सङ्कल्प कहलाता है। शिव का अर्थ पुण्य या कल्याण है कल्याण का सङ्कल्प शिव सङ्कल्प कहाता है। जिस में व्यक्ति का भी कल्याण परिवार का भी कल्याण समाज और राष्ट का भी कल्याण अपितु विश्वभर का कल्याण हो वह शिव

सङ्कल्प है, वह शिव सङ्कल्प नहीं कहलाता जिस में अपना कल्याण और पडौसी का अकल्याण हो, यह सम्भव नहीं है कि पडौसी के घर में आग लगी हो और अपने आप उस की आंच से वच जावें। तथा जिस विषय में अपना अधिकार मानव समझे उसे दूसरे के लिये भी सुरक्षित रक्खे वैसा कर्तव्य पालन करे, अधिकार और कर्तव्य को एक सूत्र में बांधना शिव सङ्कल्प है। इसी से मानवों का पारस्परिक कल्याण होगा इसी से लोक परलोक सिद्ध होगा। मन से पवित्र इच्छाएं करना बुद्धि से पवित्र निर्णय करना चित्त से पवित्र स्मरण करना और अहङ्कार से पवित्र ममत्व करना शिव सङ्कल्प है। इच्छाएं आवश्यकता के अनुसार मर्यादा में करना आवश्यकता से बाहिर न करना या आवश्यकताओं को समय से अधिक न बढाना, निर्णय उपस्थित के लिये करना, अनुपस्थित की कल्पना में न जाना, स्मरण भी वर्तमान क्षण से सम्बद्ध भूत या भविष्य का करना वर्तमान क्षण से पूर्व भूत भी अनन्त है और भविष्यत् भी अनन्त है उसे नहीं पकडा जा सकता जो वस्तु सर्वदा के लिये नष्ट हो गई या चली गई उस का स्मरण न करना "गतं न शोचन्ति पण्डिताः" गये को बुद्धिमान् नहीं सोचते हैं।

शील (अच्छा स्वभाव)--

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥
यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन ॥

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम ॥

(महाभार० शान्ति० राजधर्म० अ० १२४ । ६६-६६)

सब प्राणियों के प्रति मन वचन कर्म से 'अद्रोह' (वैरत्याग) दया, दान' यह प्रशंसनीय शील है । जिससे अन्यों का हित न हो और जिसके करने में लज्जा हो उस ऐसे अपने पौरुष पुरुषार्थ कर्म को न करे, हाँ उस कर्म को करे, जिससे सभा में प्रशंसा पावे, यह शील संक्षेप से कहा है इसे करना चाहिये ।

पावनकर्म—

सत्यार्जवमथाक्रोधः संविभागो दमः शमः ।
अनसूयाऽविहिंसा च शौचमिन्द्रियसंयमः ॥
पावनानि महाराज नराणां पुण्यकर्मणाम् ।

(महाभार० वन० व्रीहि द्रौणिकाप० अ० २५६ । १८)

सत्य, ऋजुता—सरलता, अक्रोध, अपने में से दूसरे को भी देना, दम, मन पर नियन्त्रण—वासनारहितता, शम—मन को शान्त रखना, स्थिर रखना, अनिन्दा, अहिंसा, शौच, इन्द्रिय-संयम । ये दश बातें मनुष्य को पवित्र करने वाली हैं ।

धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । ६३)

धैर्य, क्षमा, दमन, अस्तेय—चोरी न करना, शौच, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध। ये दश बातें धर्म के अङ्ग हैं। उक्त व्यक्तिधर्म हैं व्यक्ति को ऊंचे उठाने वाले हैं।

परम धर्म—

अहिंसा परमो धर्मः।

(महाभार० आदि० पौष्य० अ० ११। १३)

अहिंसा—मन वचन कर्म से किसी को भी पीडा न पहुंचाना परम धर्म—ऊंचा कर्तव्य है।

अपराध्य कर्म—

अकृतज्ञस्तु मित्राणां···एकः सम्पन्नमश्नातु।
श्वसुरात्तस्य वृत्तिः स्याद् दिवा गच्छतु मैथुनम्॥
प्रेष्यो भवतु गज्ञश्च अनाहिताग्निर्म्रियताम्॥
निराकरोतु देवांश्च अतिथिगृहसंस्थोऽस्तु।
पठतां विस्वरं पदं शुल्केन ददत् कन्याम्॥
शरणागतं सन्त्यजतु यस्ते हरति पुष्करम्।

(महाभार० अनुशा० अ० ६४। ३२)

अगस्त्य के कमल की चोरी के प्रसङ्ग में शाप (गाली) के रूप में अपराध्य कर्मों का वर्णन है कि जिसने तेरा कमल चुराया हो, वे अपराध्य कर्म हैं—मित्रों का अकृतज्ञ—कृतघ्न होना, अकेला अच्छे भोग भोगना, श्वसुर से आजीविका, दिन में

मैथुन करना, राजा का दास होना, अनाहिताग्नि—अदीक्षित-गुरु से रहित या अग्निहोत्रादि यज्ञाधिकार से रहित होकर मर जाना, वेदों की अवज्ञा करना, संन्यासी गृहवासी होना, स्वर से रहित वेद का पाठ पढना—स्वररहित वेद पाठ करना, धन लेकर कन्या का विवाह करना, शरणागत को त्यागना ये ११ अपराध्य कर्म हैं।

मन वाणी देह के पापकर्मों का परिगणन—

प्राणातिपातः स्तैन्यं परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ॥
असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ॥
अनभिध्या परस्वेषु परसत्त्वेषु सौहृदम्।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ॥

शरीर से किये जाने वाले 'प्राणघात, चोरी, परस्त्रीगमन*' इन तीन पापकर्मों को छोड़ दे। वाणी असम्बद्ध प्रलाप, कठोर भाषण, अतिनिन्दा, झूठ बोलना, ये चार न बोले, न सोचे। मन से पर धनों में अनिच्छा, पर जनों में मैत्री, कर्मों का फल मिलता है ऐसी आस्था करे विपरीत इनके परधनों में इच्छा, पर जनों में वैर, कर्मों का फल नहीं मिलता—नास्तिकता मन से न करे।

कर्म का फल मिलता है—

---

* परपुरुषगमन बालमैथुन आदि भी समझें।

असद् भूम्याः समभवत् तद् द्यामेति महद् व्यचः ।
तद्वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥
(अथर्व० ४ । १६ । ६)

असद् व्यवहार—पाप अपनी भूमि से उत्पन्न होता है तो वह महाविकसित हो आकाश को पहुँच जाता है अर्थात् निज भूमि तक नहीं रहता—उस क्षेत्र या गुप्तस्थान तक नहीं रहता किन्तु ऊंचे चढ जाता है वहां फूलता फलता हुआ दूर तक पहुंच जाता है फिर तो विपरीत सन्तप्त करता हुआ—प्रतिकूल कष्ट देता हुआ वज्ररूप में निवृत्तिमुख हो—लौटता हुआ कर्ता को प्राप्त होता है ।

पाप करने वाला यह समझता है कि पाप मैंने कर लिया बस वह मुझ तक ही रहा उसे किसी अन्य ने नहीं जाना । जान लेने पर भी क्या हुआ मैं धनवान् हूँ बलवान् हूं सत्तावान् हूं मेरा क्या कोई बिगाडेगा ? फिर जितना किया उतने ही तो बिगाडेगा । किन्तु यह बात नहीं क्योंकि पाप अपनी उत्पत्ति भूमि तक या उस पापकर्ता तक ही गुप्त नहीं रहता किन्तु वह तो बीजांकुर की भांति फूलता फलता हुआ ऊपर आकाश में प्रकट हो विस्तृत रूप धारण कर लेता है । पाप छिपाने से नहीं छिपता वह तो लोगों में बिजुली के समान शीघ्र फैल जाता है । पुनः फैल कर ही नहीं रहता किन्तु अपनी उपजभूमि-पापकर्ता को प्राप्त होता है । अपितु न केवल उतने ही रूप में जितना कि अपनी उपज भूमि पापकर्ता से प्रकट हुआ किन्तु शतगुणित और सहस्रगुणित हो एक बीजांकुर से पके असंख्य फल-बीजों के समान प्राप्त होता है । विष बोने से भूमि

पर विष बीज हो तो सहस्त्र रूप में बरसेंगे। अतः पाप के बीज को नष्ट कर अपनी जीवनभूमि में अमृतसमान पुण्य कर्म के बीज बोने उसके अंकुर उपजाने सुफल पाने चाहिएं।

तथा—

कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात् कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥ (मीमांसा दर्शन ११।१।२०)

कर्म होने पर—कर्म वर्तमान होने पर उद्भव—उपज परिणाम परिपाक आवश्यक है, कृषिवत् अर्थात् खेती की भांति बीज बोने से पुनः उद्भव—प्रत्येक उपज के फल हुआ करते हैं।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥

(महाभार० अनुशा० अ० १।७४)

जैसे मिट्टी के पिण्ड से कर्ता (पात्रकर्ता—कुम्हार) जो ज (पात्र) चाहता है करता है इसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार फल प्राप्त करता है।

[१३]

बालकों या छात्रों के तीन अभीष्ट

बालकों या छात्रों के निर्माण अथवा शिक्षण के सम्बन्ध में आचार्य के तीन उत्तरदायित्व हैं जो उन के तीन अभीष्ट हैं।

वे अभीष्ट हैं :—

आचार्योऽन्तेवासिनां योगमिच्छन् जपति ।
ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यमि ब्रह्म वदिष्यामि ॥
ओ३म् भूर्भुवः स्वरिति त्रिः सावित्रीमधीते ।

(वाराह गृह्यसूत्र)

आचार्य शिष्यों के सम्बन्ध को चाहता हुआ जप करता है सङ्कल्प करता है कि मैं अपने शिष्य को ज्ञान का उपदेश करूंगा, सत्याचरण का उपदेश करूंगा, ब्रह्म–परमात्मा का उपदेश करूंगा। ऐसा सङ्कल्प कर तथा शिष्यों से भी प्रतिज्ञा कराकर कि मैं ज्ञान का ग्रहण करूंगा, सत्याचरण का ग्रहण करूंगा, ब्रह्म-परमात्मा

का ग्रहण करूंगा*। पुनः आचार्य "ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥" इस सावित्री सवितादेवतावाली ऋचा अर्थात् गायत्री मन्त्र को वेदाध्ययन या विद्याध्ययन में प्रथम पढाता है।

आचार्य की ओर से प्राप्त होने वाले तीन अभीष्ट बालक या छात्र को मिलते हैं जो कि ज्ञान का शिक्षण, सत्याचरण का उपदेश, ब्रह्म-परमात्मा का प्रवचन हैं। इन तीनों की मानव को आवश्यकता है, तीनों से वह पूरा मानव बनता है। इन में से किसी एक की भी कमी से उतनी ही मानवता में कमी रह जावेगी। बालक के लिये प्रथम ज्ञान का उपदेश चाहिये ज्ञान से मानवता आती है यह मानवीय सुख का साधन है। एक घर है जिस में दो बालक हैं एक चार मास का दूसरा आठ वर्ष का। चार मास के बालक के सामने लालमिर्च आने से वह उसे मुख में डाल लेता है मुख जल जाता है रोता है, आग का अङ्गारा लाल देख हाथ में उठाना चाहता है उठाने को हाथ लगाता है हाथ जल जाता है दुःख होता है। सूई या पिन खेलते हुए उठा लेता है उसे इधर उधर अङ्ग में चुभो लेता है पीडा होती है तो रोता है। पर जो आठ वर्ष का बालक है घर में लड्डू पेडा या केला आदि फल देखता है तो उठाकर खाता है सुखी होता है, शीत के दिनों में अग्नि के पास बैठ कर शीत से बच जाता है सुख पाता है, कहीं कांटा या फांस

---

*अध्यात्मशैली में "असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।"

चुभ जाने पर सूई या पिन से निकाल पीडा से बच सुखी हो जाता है। घर की वस्तुएं वही हैं पर एक बालक के लिये वे दुःख बनी हुई हैं और एक बालक के लिये सुख, चार मास के बालक के लिये दुःख और आठ वर्ष के बालक के लिये सुख। क्या कारण है? आठ वर्ष के बालक को घर की वस्तुओं का ज्ञान है वे उसे सुख देती हैं चार मास के बालक को उन का ज्ञान नहीं उसे दुःख देती हैं। ऐसे ही संसाररूप घर की वस्तुओं का जिस को ज्ञान होगा उसे सुख मिलेगा जिसे ज्ञान न होगा उसे दुःख मिलेगा।

दूसरा अभीष्ट है ज्ञान के अनन्तर सत्याचरण, ज्ञान हो गया सत्याचरण न हुआ तो मानव नहीं बनता अग्नि का ज्ञान हो गया पर सत्याचरण न आया, लगा एक दूसरे के घर को आग लगाने, छुरे का ज्ञान हो गया परन्तु लगा दूसरों के गलों पर चलाने या अपनी ही आत्महत्या करने, ऐटम् का ज्ञान हो गया पर लगा ऐटम् बम्ब बना कर मानवों का नाश करने अपने ही नाश का हेतु बनने। सत्याचरण को धर्माचरण भी कहते हैं "यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् सत्यं वदन्तमाहु धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति।" (बृहदा० १।४।१४) जो धर्म है वह सत्य है सत्य बोलते हुए को धर्म को बोलता है ऐसा कहते हैं और धर्म को बोलते हुए को सत्य को बोलता है ऐसा कहते हैं। धर्म के सम्बन्ध में आदि सम्राट् धर्मप्रवर्तक मनु महाराज ने कहा है कि "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।" (मनु ८।१५) धर्म ही मारा हुआ

मनुष्य को मार देता है और धर्म ही रक्षित किया हुआ मानव की रक्षा करता है अतः धर्म को मारना न चाहिये क्योंकि मारा हुआ धर्म हमें न मारदे। धर्माचरण के दो क्षेत्र हैं एक दिनचर्या दूसरे जीवनचर्या। दिनचर्या में प्रातः शयन से उठ कर सायं-काल तक तथा सो जाने तक का भी कार्यक्रम है। जीवनचर्या में गुणकर्मानुसार ब्राह्मण आदि वर्ण का स्वीकार और वैसा आचरण तथा ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास आश्रम में निवास और आचरण। जीवनचर्या का धर्म विस्तृत है उसे न छू कर दिनचर्या के धर्म में से प्रारम्भिक ही धर्म को उदाहरणार्थ लेते हैं प्रातः शयन से उठ कर शौच करना धर्म है जिस ने इस धर्म की रक्षा की वह सुरक्षित रहता है जिस ने मार दिया उसे हानि होती है, कारण कि सोते हुए मानव का शरीर ठहरे हुए पात्र के समान होजाता है, जैसे एक बडा पात्र जलभरा है पर उस में जल मलिन है जल में घास मिट्टी रेत है जब जल शोधना होता है तो उस पात्र को कुछ घण्टों के लिये ठहरा देते हैं, धीरे धीरे हलका मल घास तिनके फेन ऊपर तर आता है और मिट्टी रेत भारी मल नीचे बैठ जाता है, बीच में स्वच्छ जल होता है उसे युक्ति से छान लेने से घास तिनके फेन वस्त्र के ऊपर हो जावेंगे रह जावेंगे और मिट्टी रेत पात्र में नीचे छोड दिये जावेंगे जल शुद्ध प्राप्त हो जावेगा। ऐसे ही शयनसमय ठहरे हुए शरीर में आहार (भोजन) में अच्छे बुरे के रूप में दो भाग होते हैं उस में जो हल्का मल है वह सोते हुए मुख नाक आंख की ओर ऊपर चला जाता है

और भारी मल मूत्र पुरीष (पेशाव टट्टी) के रूप में नीचे चला जाता हैं। प्रातः शयन से उठ कर ऊपर के मलों को दन्तधावन (दान्तोन) कुरला नाक साफ करने मुख आंख धोने से दूर कर देना और नीचे के भारी मल मूत्र पुरीष को शोच जा कर पृथक् कर देना होता है, पुनः शरीर में स्वच्छ रस रह जाता है जो शरीर का अङ्ग बनता है। इस प्रकार इस दिनचर्या के धर्म की जिस ने रक्षा की है वह सुरक्षित रहता है स्वस्थ रहता है और जिस ने मार दिया हो उस का हनन होता है वह रोगी हो जाता है जैसे उस जलभरे पात्र जिस में ऊपर हल्का मल तर आया नीचे भारी मल बैठ गया उसे फिर आन्दोलित कर दें हिला दें तो वह पुनः दूषित हो जाता है, इसी प्रकार शयन से उठ कर उन ऊपर नीचे के मलों को दूर न करके संसार के कार्यों में शरीररूप पात्र को आन्दोलित कर दे हिला डाले तो फिर स्वास्थ्य नष्ट ही होगा।

स्वास्थ्यरक्षार्थ कुछ व्यायाम—

१—ब्रह्मचर्य संस्थापनार्थ—औन्धे लेट कर टांगें पीछे लम्बी फैला दो हाथों को कन्धों के पास नीचे जमा दो, शरीर का भार छाती पेट गुप्ताङ्ग पर रहे पुनः शिर और गर्दन को धीरे धीरे ऊपर उठाओ छाती और पेट को भी ऊपर उठा लो गुप्ताङ्ग पर शरीर का भार रहे। फिर धीरे धीरे नीचे पूर्व की भांति हो जाओ पश्चात् पूर्ववत् उठाओ ऐसे तीन वार करो।

(ख) पूर्ववत् शरीर को रख कर दोनों हाथ कन्धों के पास न रख कर पीठ के ऊपर मिला कर रख दो पश्चात् उसी भांति शिर

गर्दन ऊपर उठाओ और नीचे लाकर तीन बार करो।

इस व्यायाम से वीर्यस्तम्भन स्वप्नदोष तथा प्रमेह रोग का निवारण होता है।

२—पेट का व्यायाम—पीठ के बल लेट कर दोनों टांगों को ऊपर सीधे उठा लो फिर बारी बारी से एक एक टांग साईकल की भांति घुमाओ।

इससे उदरविकार दूर होंगे भोजन पचेगा भूख बढेगी।

३—छाती का व्यायाम—सीधे खडे होकर सामने दृष्टि रख पूर्ण श्वास ले रोक कर छाती को फुलाओ और दोनों भुजाओं को छाती से घिसते हुए छाती की मांसपेशियों को आगे सरकाओ घबराहट होने पर श्वास छोड़ दो। ऐसे पांच छः बार करो।

इससे छाती बढती है हृदय में बल आता है आकस्मिक आघात की पीडा दूर होती है।

४—भुज पेशियों (Muscles) का व्यायाम—दोनों भुजाओं हाथों को सामने नीचे कर दो पुनः श्वास रोक कर एक भुजा के हाथ की मुट्ठी को धीरे धीरे बलसे बन्द कर धीरे धीरे भुजा मोडकर अंगूठा कन्धे से मिला दो पुनः इस हाथ को धीरे धीरे नीचे पूर्व स्थिति में ले जाओ और दूसरी भुजा के हाथ की मुट्ठी धीरे धीरे बन्द कर अगूंठा कन्धे से मिलाओ पश्चात पूर्ववत् नीचे लाओ। एवं बारी बारी से चार बार करते रहो।

(ख) दोनों भुजाओं को कन्धों की सीध में दोनों पार्श्वों (साइड) में पंख के समान फैला दो, श्वास रोक कर पूर्व की

भांति मुट्ठी धीरे धीरे बल से बन्द कर धीरे धीरे कन्धों से अंगूठे बारी बारी से मिलाओ।

(ग) श्वास रोक कर दोनों भुजाओं के हाथों की मुट्ठी बन्द करो और एक भुजा को धीरे धीरे मोड कर अंगूठा कन्धे के अन्दर छाती की ओर मिलाओ और दूसरी भुजा को पीछे मोड कर उसका अंगूठा कन्ध के पीछे मिलाओ, इस प्रकार बारी बारी से करो।

इस से भुजदण्डकी पेशियां (Muscels) सुगठित और बलवान् होते हैं।

(५) आंखों के लिये-सूर्योदय से पूर्वप्रातः मैदान में खडे हो नीले आकाशमण्डल की ओर दृष्टि करके खडे हो जाओ ऐसा अवसर न मिलने पर किसी भी समय हरियाले पर्वत या मैदान पर दृष्टि रख कर केवल आखों को (न कि गर्दन को) दाएं से बाए घुमाओ और बाएं से दाएं पांच सात बार करो। पश्चात् ऐसे ही ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर घुमाओ पुनः तिरछी दृष्टि से तिरछी आंखे ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दोनों दांए वांए क्रम से घुमाओ। पश्चात् गोलबनाकर गोलरूप में आंखें दांए से वांए और वांए से दाएं को घुमाओ।

(ख) पुर्णमासी से तीन दिन पूर्व से लेकर तीन दिन पश्चात् तक चन्द्रमा पर घण्टाभर तक दृष्टि जमाना चाहिए।

(ग) प्रातः आठ बजे तक सूर्य की ओर सांखें बन्द करके शिर को धीरे धीरे दाएं बाएं घुमाना चाहिए इस से नेत्रों के

दोष दूर होते हैं दृष्टि को बल मिलता है।

(६) श्वासप्रणाली तथा प्राणाशयों के लिये—प्रातः काल सूर्योदय से पूर्व खुली तथा शुद्ध हवा में द्रुत गति से भ्रमण और हलके हलके दौडना चाहिए।

(ख) आसन लगाकर निश्चल बैठ कर प्राणायाम करना। हाथी जैसे पुष्ट बलवान् पशु के बल का तथा उस के अङ्गों या साक्षात् उसके पास बैठ उसके बल का चिन्तन कर प्राणायाम करना चाहिए।

इस से श्वासप्रणाली का शोधन फेफडे में सर्वत्र प्राणसञ्चार और रक्तसंचार होने से कफदोष पाण्डु क्षय रोग से दूर रहना तथा उनकी निवृत्ति भी होती है अङ्गों में पुष्टि बल प्राप्त होते हैं।

तीसरा अभीष्ट कहा है ब्रह्म-परमात्मा का उपदेश लेना, यह आध्यात्मिक अभीष्ट है, अध्यात्म में मन आत्मा और ब्रह्म परमात्मा अभीष्ट हैं। बाहिरी जीवन के ये तीनों आधार हैं जितना अध्यात्म-अन्त स्थल-भीतर से कार्य को किया जावेगा उतनी अधिक सफलता मिलेगी, जैसे कूदने वाला जितना पीछे से दौड कर आवेगा उतना ही वह अधिक आगे कूद सकेगा। जिस कार्य को अन्तःस्थल से मन से करेंगे उतना अधिक सफल होंगे मन के भी अन्दर आत्मा है आत्मा से उठाये कार्य में उस से भी अधिक सफल होंगे और आत्मा के भी अन्तःस्थल में या पीछे परमात्मा है परमात्मा को पृष्ठ बना कर और अधिक सफल होंगे। साथ ही ज्ञान और सत्याचरण का फल तो इसी लोक का है या शरीर

तक का है परन्तु शरीर के अन्दर आत्मा चेतन नित्य है, नश्वर फल से उस का कल्याण या शान्ति न होगी किन्तु उस का समागम परमात्मा से होना अनिवार्य है परमानन्द फल का दायक है। अतः परमात्मा का उपदेश लेना भी मानव का अभीष्ट है। ऋषि-मुनियों की या भारतीय शिक्षापद्धति में ब्रह्म-परमात्मा के उपदेश को प्रधानता दी जाती है अतएव "ओ३म् भूर्भुवः स्वः"से गायत्री मन्त्र को प्रथम पढाया जाता है जो कि बालक या छात्र के जीवन को उन्नत करने के लिये परम साधन है, उक्त गायत्री मन्त्र का अर्थ हम यहां देते हैं।

ओ३म् । भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम् ।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
(ऋ० ३।६२।१०, यजु० ३।३५ साम० ६।६।१०)

ओ३म्—रक्षक परमात्मा—सर्वथा रक्षक। प्रत्येक जन अपना रक्षक चाहता है सहारा चाहता है अवलम्बन चाहता है, माता रक्षा करती है पिता रक्षा करता है परमात्मा इन से भी अधिक रक्षक है, गुरु रक्षक है मित्र रक्षक है परमात्मा इन से भी अधिक रक्षक है राजा रक्षा करता है घर रक्षा करता है परमात्मा इन से भी अधिक रक्षा करता है अतएव परमात्मा परममाता परमपिता परमगुरु परम-मित्र परमराजा परम आश्रय है। "एतदालम्बनं श्रेष्ठमेदालम्बनं परम्।" (कठो० १·२।१७) यही आलम्बन-सहारा श्रेष्ठ है यही आलम्बन-सहारा पर है-अभीष्ट—ऊंचा है। अन्य आलम्बन थोडे काल के है, साथ छोड देते हैं, टूट फूट जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं

खो जाते हैं अतएव वे छूटने वाले टूटने वाले फूटने वाले रूठने वाले हैं । परन्तु यह सर्वदा सर्वथा साथ रहने वाला रक्षक आलम्बन है सहारा है।

'भूः' प्राणस्वरूप परमात्मा। मानव प्राण चाहता है जीना चाहता है पर भौतिक प्राण के अधार पर, सो कब तक सौ सवासौ वर्ष तक, बस पश्चात् वह 'था' में कहा जाता है वह था। भौतिक प्राणों के भरोसे मानव अमर नहीं बनता, प्रत्येक मानव की भीतरी यह स्वभाविक आकांक्षा है मैं न मरूं यह स्वाभाविक आकांक्षा सिद्ध करती है कि कोई ऐसी स्थिति भी है जब कि यह अपने को अमररूप में देखता है और यह अमर हो जाता है वह है प्राणस्वरूप परमात्मा को प्राण बना लेने पर।

'भुवः' अवकल्कित करने वाला* कल्क-मल दुःख दोष हैं, इन से अलग करने वाला परमात्मा। मानव जीना चाहता है परन्तु दुःखरहित जीना चाहता है, सांसारिक दुःखनिवारक पदार्थों से दुःख दूर होता है तो फिर भी आ जाया करता है उन से सर्वथा दूर नहीं होता है किन्तु दुःख सन्ताप अशान्ति रूप कल्क का सर्वथा निवारक तो परमात्मा ही है एवं अमरता का दाता दुःख से त्राता तो वही परमात्मा है ।

'स्वः' दुःख दूर होजाने पर रोग दूर हो जाने पर ही मानव सन्तुष्ट नहीं होता किन्तु सुख भी चाहता है-जीवन में स्फुर्ति कान्ति उल्लास

---

*"भुवः- अवकल्कने" (चुरादि०)
कल्क-खल-मल से रहित करने वाला परमात्मा

प्रसन्नता आनन्द भी चाहता है, बाहिरी या सांसारिक या भौतिक पदार्थों से प्राप्त भौतिक सुख तो दुःख से युक्त है क्षणिक है और स्वाधीन भी नहीं है, परमात्मा सर्वथा सुखस्वरूप स्थायी और अपने में रमण कर जाने वाला* सुख है।

'सवितुः—देवस्य' प्रेरक बुद्धि के प्रेरक ज्ञानप्रद इष्ट देव अभीष्ट परमात्मा के 'तत्-वरेण्यं भर्गः' उस प्रसिद्ध वरने योग्य-सदा वरने योग्य-वरने में अभीष्ट तथा जिसका वरना मानव के लिये अनिवार्य है जिसके वरे विना मानवता नहीं और न मानवीय कल्याण है उस ऐसे देव के पापविनाशक अविद्यान्धकार विध्वंसक शुद्ध पवित्र ज्ञानमय तेज को 'धीमहि' हम धारण करें-ध्यावें- अपनावें 'यः-नः- धियः प्रचोदयात्' जो 'हमारी बुद्धियों तथा हमारे प्रज्ञानों-मन बुद्धि चित्त अहङ्कार को+ मानवोचित कर्मों में तथा अपनी ओर अपनी शरण में लेने अपना सत्सङ्ग कराने के लिये प्रेरित करे ॥

॥ इति ॥

—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक



* रमः - स्वर्—स्व—र्—स्वस्मिन् रमते—स्वर् 'स्व-रम्-ड'।

+"धीः प्रज्ञाननाम" (निघ० ३।६)